## सीखना... दिल से

अधिकांश युवा कॉलेज के व्याख्यानों से जुड़े नीरस श्रम और ऊब से, बासे प्राध्यापकों से, और अन्तहीन परीक्षाओं से मुक्त होना चाहेंगे। संयुक्ता की जीवन्त किताब *सीखना... दिल से* भविष्य में कॉलेज या विश्वविद्यालय की शिक्षा के प्रति इन युवाओं की सोच को नाटकीय ढंग से बदल सकती है।

आन्ध्र के एक साधारण मध्यमवर्गीय परिवार की संयुक्ता ने शिक्षा क्षेत्र की चूहा दौड़ और एमबीए जैसी डिग्रियों के पीछे होने वाली भागमभाग से बचने का निर्णय लिया। कॉलेज का जकड़जामा स्वीकार करने की बजाय उसने अपनी खुद की "उच्च शिक्षा" पाठ्यचर्या बनाई जो उसके दिल और दिमाग, दोनों के अनुकूल थी। उसके इसी सफर को बयान करती है यह किताब, जो कहती है, "सीखना ऐसे कि जिसमें दिल भी साथ हो।"

एकलव्य
parag

मूल्य: 80.00 रुपए
A0402H
ISBN: 9788189976644

# सीखना... दिल से

संयुक्ता

एकलव्य

सीखना...

# दिल से

संयुक्ता

एकलव्य का प्रकाशन

**सीखना... दिल से**
SEEKHNA... DIL SE
**लेख एवं चित्रः** संयुक्ता
**अनुवादः** भरत त्रिपाठी
**कवर डिज़ाइनः** जितेन्द्र ठाकुर

मूल अँग्रेज़ी *Learning the Heart Way*
अदर इण्डिया प्रेस, गोवा द्वारा प्रकाशित; www.otherindiabookstore.com
© हिन्दी संस्करणः एकलव्य, भोपाल
इस किताब के किसी भी भाग का गैर-व्यावसायिक शैक्षणिक उद्देश्य से कॉपीलेफ्ट चिन्ह के तहत उपयोग किया जा सकता है। स्रोत के रूप में किताब का उल्लेख अवश्य करें तथा लेखक व एकलव्य को सूचित करें। अन्य किसी भी उपयोग के लिए लेखक (samyuktha.gorrepati@gmail.com) और एकलव्य से सम्पर्क करें।

पहला संस्करणः अप्रैल 2010 / 3000 प्रतियाँ
कागज़ः 80 gsm नेचुरल शेड व 300 gsm आर्ट कार्ड (कवर)
पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से विकसित

ISBN: 978-81-89976-64-4
**मूल्यः 80.00 रुपए**

प्रकाशकः **एकलव्य**
ई-10, बीडीए कॉलोनी शंकर नगर,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 म.प्र.
फोनः (0755) 255 0976, 267 1017 फैक्सः (0755) 255 1108
www.eklavya.in
सुझावों के लिएः books@eklavya.in
किताबें मँगवाने के लिएः pitara@eklavya.in

मुद्रकः आर. के. सिक्युप्रिंट प्राइवेट लिमिटेड, भोपाल, फोनः 0755 - 2687589

# विषय-सूची

प्रस्तावना ..... 5
प्राक्कथन ..... 11
भूमिका ..... 13
एक यात्रा की शुरुआत ..... 17
मेरी अपनी राह ..... 37
एक रंगबिरंगी प्रेमकथा ..... 71
घाटी के लिए एकजुट होना ..... 103
जे. कृष्णमूर्ति और जी. संयुक्ता ..... 117
यात्रा का एक पड़ावः स्नातक की डिग्री ..... 125
आगे क्या? ..... 137
सब कैसे सम्भव हुआ ..... 143
शब्दावली ..... 149
आभार ..... 153

# प्रस्तावना

संयुक्ता की जीवन्त किताब, *सीखना... दिल से*, भविष्य में कॉलेज और विश्वविद्यालय की शिक्षा के बारे में युवाओं की सोच को नाटकीय ढंग से बदल सकती है।

ज़रूरी नहीं कि इस किताब की वजह से विश्वविद्यालयों से बड़े पैमाने पर पलायन हों, पर कम से कम यह एक ऐसा आकर्षक विकल्प तो प्रदान करेगी ही जिसके बारे में मजबूरी में कॉलेज जाने वाले युवाओं ने कल्पना भी नहीं की होगी। इस युवती ने न सिर्फ "दिल से सीखा" बल्कि कॉलेज की डिग्री भी हासिल की। इस तरह उसे दोनों जहाँ की खुशियाँ मिल गईं।

आज विश्वविद्यालयीन शिक्षा जिन गम्भीर समस्याओं से पीड़ित प्रतीत होती है उनमें से ज़्यादातर के लिए स्वयं कॉलेज प्रबन्धन या फिर इन नीरस संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के माता-पिता ज़िम्मेदार हैं। कॉलेज में पढ़ने वालों का उदासीन और निरुत्साही रवैया बहुत हद तक एक ज़्यादा घातक बीमारी का लक्षण है जिसके लिए "हमारी राय में" इन विद्यार्थियों को दोष नहीं दिया जाना चाहिए। वैसे भी भारतीय स्कूली शिक्षा व्यवस्था इन्हें अपनी ज़िन्दगी और शिक्षा के महत्वपूर्ण पहलुओं पर निर्णय लेने में बेहद अक्षम बना देती है। इनके रोज़मर्रा के जीवन पर इनके शिक्षकों और माता-पिता, दोनों का ही प्रभुत्व होता है और उनका ज़ोर इनके लिए सभी या अधिकांश निर्णय लेने पर रहता है। बाद में, ऐसे निर्णयों में वैवाहिक प्रस्ताव या फिर ज़िन्दगी-भर के लिए कायम रहने वाली नौकरी का चुनाव तक शामिल रहते हैं।

मुझे ऐसे माता-पिता बहुत कम मिले हैं जो कॉलेज जाने वाले अपने बच्चों को उनकी शैक्षिक पढ़ाई के महत्व को गम्भीरता से महसूस करवाने में समर्थ हों। अव्वल तो यह पढ़ाई असंगत होती है और अधिकांशतः इसका ऐसा कोई अर्थ नहीं निकलता जिससे विद्यार्थी जुड़ाव महसूस कर सकें।

विश्वविद्यालय सीखने की जगह होती ही नहीं: यह तो बस रटने की जगह होती है, ऐसी जगह जहाँ आप वह पढ़ते हैं जो व्यवस्था आपके लिए तय करती है। और, व्यवस्था में बदलाव होने में युग बीत जाते हैं। मुझे बताया गया है कि दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय जैसी जगहों में पाठ्यक्रम में अकेली एक किताब भर बदलने में तकरीबन पाँच साल लग जाते हैं। लगता है कि आज के कॉलेज और विश्वविद्यालय ऐसे लोगों के लिए बने हैं जिनके पास करने के लिए कुछ और बेहतर नहीं है तथा जो बेहतर की तलाश की बजाय किसी कब्रगाह में पड़े रहना पसन्द करते हैं। वैसे भी, ज़रूरी नहीं कि कॉलेज की शिक्षा रोज़गार सुनिश्चित करती हो। वास्तव में तो ये शिक्षण संस्थान इनमें प्रवेश करने वाले सामान्य युवाओं को लाभकारी रोज़गार पाने में असमर्थ बना देते हैं।

नियोक्ताओं को भी कॉलेज से हाल ही में निकले लोगों को काम पर रखना बेकार और झंझट वाला लगता है क्योंकि इन युवाओं को बिरले ही वास्तविक दुनिया में कुशलतापूर्वक कोई भी काम करने का अनुभव होता है। विश्वविद्यालयीन व्यवस्था किन्हीं कारणों से, जो सिर्फ उसे ही पता हैं, अनुभव को बुराई मानती है और विद्यार्थियों को व्यावहारिक अभ्यास से बचाए रखती है। उनको मजबूर करती है कि वे ऐसी पूर्वनिर्धारित पाठ्यपुस्तकों व मार्गदर्शिकाओं पर ध्यान केन्द्रित करें जिनका बाहरी दुनिया से ताल्लुक न के बराबर होता है।

इस सन्दर्भ में *सीखना... दिल से* सचमुच अनुकरणीय है।

स्कूल से ताज़ा-ताज़ा निकली, आन्ध्र की इस लड़की ने कॉलेज में पढ़ने के पारम्परिक चलन से अलग हटने का फैसला किया। शुरुआत में उसे यह साफ नहीं था कि वह ठीक-ठीक क्या सीखना चाहती थी, फिर भी उसने तय किया कि यह पता लगाने की कोशिश करना चाहिए कि ऐसा क्या है जो उसे वाकई रोमांचित कर सके, खुशी दे तथा सन्तोष का एहसास कराए।

शुरुआत में संकोची और हिचकिचाने वाली संयुक्ता को जल्द ही पता चल गया कि सामने आने वाली नई स्थितियों में निर्णय लेना – उनसे सीखना चुनौतीपूर्ण और प्रेरणादाई था।

कॉलेज की औपचारिक शिक्षा न लेने के निर्णय ने उसे एक विराट अवसर



दिया: अब उसके पास तीन साल का उत्कृष्ट समय था जो 45 मिनिटों के उबाऊ व्याख्यानों को सुनने में व्यर्थ नहीं जाएगा। व्याख्यान, जो ऐसे लोगों द्वारा दिए जाते हैं जो काफी हद तक बिचौलिए बन चुके होते हैं और बस किताबों में छपे मृत ज्ञान को विद्यार्थियों तक पहुँचाते हैं। कॉलेज की बँधी दिनचर्या से मिली मुक्ति ने संयुक्ता को इस काबिल बनाया कि वह अपनी खुद की समय-सारणियाँ बना सके, खुद को अपने आप से ही अनुशासित कर सके, साक्षात्कारों के द्वारा बातचीत करना सीख पाए, उचित शिक्षक चुन सके, विस्तृत भ्रमण कर सके, सामाजिक और पर्यावरण-सम्बन्धी मुद्दों से जुड़ सके और अपना पूरा समय, ध्यान तथा ऊर्जा "दिल की योजनाओं" पर लगा सके।

शुरुआत में संयुक्ता के पास विकल्पों का विशाल पिटारा था जिसमें कला से लेकर नृत्य, ऑरीगैमी, भारतीय संगीत और करघों पर काम करना आदि शामिल थे। आखिरकार, इन सभी को गम्भीरतापूर्वक आज़माने के बाद उसने अन्ततः सिर्फ कपड़े की बुनाई में, जिसने हमेशा ही उसे आकर्षित किया था, दक्षता हासिल करने का निर्णय लिया।

इन वर्षों के दौरान वह इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय से पत्राचार शिक्षा पाठ्यक्रम में पंजीयन कराकर स्नातक की डिग्री हासिल करने में सफल हुई, वह भी स्वर्णपदक के साथ। इसके बाद उसने एक सामान्य प्रतियोगी परीक्षा के ज़रिए राष्ट्रीय फैशन प्रौद्योगिकी संस्थान में ठीक अपनी पसन्द के क्षेत्र: वस्त्र डिज़ाइन में सफलतापूर्वक दाखिला लिया। इस तरह उसने अपनी दिल की इच्छाओं के अनुसार सीखने की स्वतंत्रता के साथ ही प्रमाणपत्र प्राप्त करने में भी सफलता हासिल की।

ऐसी कौन-सी बातें थीं जिनके कारण वह सफल हो सकी?

पहली बात थी, माता-पिता का समर्थन, जिन्होंने न सिर्फ ऐसी पढ़ाई के लिए अनुमति दी बल्कि ऐसे मौके और परिस्थितियाँ भी बनाईं कि इस पढ़ाई में आगे बढ़ा जा सके। यदि सभी माता-पिता अपने बच्चों के सिर पर सवार होना छोड़ दें – जैसा कि संयुक्ता के माता-पिता, नरेन और उमा ने उसके मामले में बुद्धिमत्तापूर्वक किया – तो हमें सीखने की प्रवृत्तियों में सहसा वृद्धि देखने को मिलेगी जो हमारे सरीखे विकासशील समाज के लिए अति लाभकारी होगा। नरेन और उमा धनी लोग नहीं हैं

और संयुक्ता की सीखने की यात्रा में उनका सहयोग किसी अमीर बेटी को उसकी इच्छानुसार किसी भी कीमत पर कुछ भी करने देने जैसा कतई नहीं है। और जैसा कि संयुक्ता खुद ही बताती है कि उसके गैर-पारम्परिक पाठ्यक्रम का खर्च कभी भी किसी पारम्परिक कॉलेज में पढ़ने वाले किसी सामान्य छात्र पर होने वाले खर्च से ज़्यादा नहीं रहा, बल्कि उससे कम ही रहा।

उसकी सफलता के लिए ज़िम्मेदार दूसरी बात थी उसका यह सुनिश्चित करना कि सिद्धान्त हमेशा व्यावहारिकता का अनुसरण करे।

पारम्परिक विश्वविद्यालय की शिक्षा में विद्यार्थी तीन सालों तक पाठ्यपुस्तकें व सिद्धान्त पढ़ते रहते हैं और फिर या तो समाज में एक सन्तोषजनक भूमिका की तलाश में या आत्मसन्तोष देने वाले रोज़गार पाने की खोज में वास्तविक दुनिया से जुड़ने की कोशिश करते हैं। पाठ्यपुस्तकें और पाठ्यक्रम उन्हें दोनों में ही कामयाब होने लायक नहीं बनाते। चूँकि विश्वविद्यालयों द्वारा वही दर्जन-भर विषय प्रस्तावित होते हैं, चाहे आप कहीं भी जाएँ, अतः ऐसे तमाम दूसरे लोग भी होते हैं जिनके पास ठीक वही सीमित कौशल होते हैं जो आपके पास हैं। उनमें उस विशिष्ट प्रतिभा या सृजनात्मकता की कमी होती है जो उन्हें या तो किसी नियोक्ता के लिए आकर्षक बना सके या फिर इतना सक्षम बना सके कि वे आत्मविश्वास के साथ अपना खुद का व्यवसाय शुरू कर सकें।

किताबी ज्ञान पर जो नाटकीय ज़ोर दिया जाता है उसे हम एमबीए के लिए फैली सनक के मामले में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं जिससे कॉलेज से ताज़ा-ताज़ा निकले विद्यार्थी और उनके माता-पिता दोनों ही प्रभावित रहते हैं।

अधिक परिपक्व अर्थव्यवस्थाओं या समाजों में सामान्यतया कई वर्षों तक किसी व्यावसायिक वातावरण में काम करने के बाद एमबीए की पढ़ाई की जाती है। भारत में, हमेशा की तरह, इस चलन को उलट दिया गया है क्योंकि भारतीय व्यवस्था सफल रोज़गार के लिए आवश्यक निरन्तर नए प्रमाणों के आवरण के भीतर बेरोज़गारों की लूट को वैध बना देती है। अतः अब लोग नौकरी तलाशने के पहले एक अतिरिक्त योग्यता की तरह से एमबीए डिग्री जुटा लेते हैं। इससे एक ओर जहाँ उन्हें एमबीए की पढ़ाई



के दौरान बेमतलब मामलों के विश्लेषणों और समाधानों में सिर खपाना पड़ता है, वहीं दूसरी ओर इसका प्रतिकूल प्रभाव यह होता है कि उनकी सीमित सोच वास्तविक जीवन में उनके सामने आने वाली समस्याओं से निपटने लायक नहीं होती।

संयुक्ता का अनुभव न तो अभूतपूर्व है न ही अनोखा, पर इस तरह से दर्ज किया गया प्रथम अनुभव ज़रूर है। जब हमारे तीनों लड़कों के सामने विश्वविद्यालय जाने का सवाल आया, मेरी पत्नी और मैंने खुद भी माता-पिता के रूप में इसी तरह का कुछ करने की कोशिश की थी। इसलिए हमने संयुक्ता की यात्राओं को बहुत नज़दीक से देखा। कॉलेज में दाखिला ले लेने के बाद हमने तीनों बेटों को सलाह दी कि वे कॉलेज या उसकी परीक्षाओं को गम्भीरतापूर्वक न लें, जब भी सम्भव हो कक्षाओं में जाने से बचें, और तीन सालों में उन क्षेत्रों में अपनी कुशलताएँ विकसित करें जिनके प्रति उनकी गहरी रुचि हो, स्वाभाविक झुकाव हो या आकर्षण हो तथा जिनसे उन्हें आनन्द या खुशी मिलती हो। अन्त में, एक बेटे ने सरीसृप विज्ञानी की तरह अपनी एक जगह बनाई, एक अन्य बेटा संगीतज्ञ हो गया और तीसरा वैब डिज़ाइन में छोटा-मोटा उस्ताद हो गया। उन्होंने साथ ही साथ अपनी कॉलेज की डिग्री भी पूरी की जिससे हमारे इस दृढ़ विश्वास की पुष्टि हुई कि कॉलेज परीक्षाओं के लिए पढ़ने में सामान्य बुद्धि के बच्चों को प्रतिवर्ष चार से ज़्यादा हफ्ते नहीं लगना चाहिए।

संयुक्ता अब विवाहित है और एक बच्चे की माँ भी। वह न सिर्फ अपनी यात्रा के परिणाम से आनन्दित है, बल्कि उसे इस बात की भी खुशी है कि उसने अपनी पसन्द के क्षेत्र में योग्यता हासिल की। काश! ज़्यादा से ज़्यादा पालक उसकी कहानी से प्रेरित हों ताकि वे भी अपने बच्चों को तथाकथित उच्च शिक्षण संस्थानों से बचा सकें जिन्होंने सीखने की कला को इस हद तक नष्ट किया है कि उसकी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती।

क्लॉड एल्वैरेस
• अदर इण्डिया प्रेस
• मल्टिवर्सिटी
गोवा

# प्राक्कथन

हावर्ड गार्डनर ने बहु-प्रज्ञाओं के बारे में अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त का आह्वान करते हुए कहा है, "बात यह नहीं है कि आप कितने होशियार हैं, बात यह है कि आप किस तरह से होशियार हैं।"

संयुक्ता ने हमारे स्कूल (कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन ऑफ इण्डिया) के स्कूल-उपरान्त कार्यक्रम के तहत हुई अपनी पढ़ाई के बारे में बताते हुए अपनी चारित्रिक स्पष्टवादिता के साथ इस तथ्य को उदाहरण सहित दर्शाया है। अपनी बुद्धिमत्ता के कारण वह स्वतंत्रता और जागरूक संशय के साथ उसके चारों ओर फैली हुई दुनिया की पड़ताल कर पाई, और यह बात उसकी अनोखी किताब की हर पंक्ति से ज़ाहिर होती है। इसके अलावा जो बात प्रत्येक छोटे किस्से, हर सहज अनुभूति, धारणाओं के प्रत्येक प्रवाह से बहती है, वह है अपनी आपबीती को बाँटने में उसका खरापन, ईमानदारी और पूर्वाग्रहरहित होना। यह भी शायद उसका ठेठ गुण ही है कि उसने खुद अपने को विवरण का केन्द्र बहुत कम बनाया है और उन लोगों पर बहुत अधिक ध्यान केन्द्रित किया है जिन्होंने उसे पढ़ाया या जिनके साथ उसका मेल-मिलाप हुआ।

सीखने के जितने विविध मौकों का उसने उपयोग किया या अपने लिए खोला उसके कारण यह छोटी-सी किताब किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए सही मायनों में मूल्यवान है जो शुरुआत करने के लिए कोई जगह तलाश रहा हो। सीखने के स्थान की तलाश, और फिर उसकी आनन्ददाई खोजबीन एक प्रखर और गम्भीर मस्तिष्क की परिचायक है जो न केवल बहुत रचनात्मक है बल्कि जिसमें गहरी सामाजिक संवेदना भी है। उसके साथ सम्पर्क-संवाद, उसकी दुविधाओं, उसके आत्म-खोजी प्रश्नों, उसकी कमज़ोरियों और उसकी उपलब्धियों को कुछ हद तक बाँटना आनन्ददाई रहा है। जितने समय वह यहाँ रही तब वह मेरे पास जो भी लेकर आई

उसे शायद इस तथ्य द्वारा सर्वोत्तम ढंग से व्यक्त किया जा सकता है कि उसके साथ प्रत्येक मुलाकात के बाद मैं युवाओं के प्रति और भी आशान्वित हो जाती थी और जीवन की बुद्धिमत्ता के प्रति मेरा विश्वास और भी मज़बूत हो जाता था। मेरा ख्याल है कि इस कारण वह अपनी किताब की तरह जीवन की समग्रता में अव्यवस्था की गुंजाइश को स्वीकार करती है – अव्यवस्थित व्यवस्था, जैसा कि स्कूल के उसके कला शिक्षक तरित कहते थे। एकमात्र वास्तविक पढ़ाई हर पल के दुर्लभ संयोजन का उपयोग करते हुए जड़ों से विकसित होती है, और संयुक्ता ह्यू प्रैथर के साथ यह कहती हुई प्रतीत होती है,

"आओ, मेरे साथ धूल-धूसरित पथ पर चलो..."

सुमित्रा गौतम
परामर्शदाता और मार्गदर्शक
शिक्षिका, "द स्कूल",
कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ इण्डिया, चेन्नई

# भूमिका

## यह किताब क्यों लिखी?

कोई भी काम करने के कई तरीके होते हैं। जैसे चाय बनाने के या जिस तरह आप शिक्षा लेते हैं। चयन और विकल्प – ये जीवन को रोचक बनाते हैं। हालाँकि आज हमने सभी चीज़ों के लिए ढाँचे बना लिए हैं, खासतौर से पढ़ाई के क्षेत्र में। बच्चों को स्कूल जाना पड़ता है, परीक्षाएँ देना पड़ती हैं। पढ़ाई में अच्छा करना पड़ता है। स्कूल पूरा करने के बाद उन्हें किसी प्रतिष्ठित कॉलेज में दाखिला लेना पड़ता है और कहने की ज़रूरत नहीं कि वहाँ भी उन्हें अच्छा प्रदर्शन करना पड़ता है। इतनी सारी "मजबूरियों" के बाद उनके पास एक लाभदायक कैरियर हो जाता है – जो वैसे भी इस पूरे करतब का उद्देश्य है। रास्ते स्पष्ट रूप से बने हुए हैं। हमें सिर्फ उन पर चलना होता है। मुड़ो मत। आजू-बाजू मत देखो। बस आगे बढ़े जाओ। सीधे आगे। और तुम पक्का वहाँ पहुँच जाओगे। सब यही विश्वास करते हैं या उन्हें ऐसा विश्वास दिलाया जाता है कि बस एक ही "गन्तव्य" है और व्यवस्थित रूप से एक प्रक्रिया का पालन करते हुए व्यक्ति वहाँ पहुँच जाएगा।

आज उच्च शिक्षा के केवल तीन चेहरे प्रतीत होते हैं: इंजीनियरिंग, चिकित्सा या कम्प्यूटर्स – ब्रह्मा, विष्णु और महेश – शिक्षा की पवित्र त्रिमूर्ति। हम सभी को अपने आप को साँचे में ढालकर इन तीनों में से किसी एक अवतार के अनुरूप बनना ज़रूरी है। यदि आप महेश नहीं बन सकते, तो ब्रह्मा बन जाइए; नहीं तो विष्णु बन जाइए। यदि आप इन तीनों में से कुछ भी नहीं बनना चाहते, तो आप मूर्ख हैं। या शायद आप में ही कोई खोट है। आप ज़रूर बुद्धू होंगे – एक मन्दबुद्धि व्यक्ति। इस तरह की मनोग्रन्थियाँ अपरिहार्य रूप से छात्र के दिमाग में घुस जाती हैं। माता-पिता तो इसी में खुश होते हैं कि उनके बच्चे इन स्थापित ढाँचों के

अनुरूप चलते हुए "वे ही पुराने काम" करें, जैसा कि उन्होंने खुद भी किया था। जैसा उनके दोस्तों के बच्चे करेंगे और कर रहे हैं। कोई भी मुक्त आकाश में कदम बढ़ाकर यह कहने का जोखिम नहीं उठाना चाहता कि, "मैं वही करूँगा जो मेरा दिल कहेगा।"

इस किताब को लिखने का उद्देश्य मेरी उम्र के पाठकों को यह दिखाना है कि – हाँ, विकल्प हैं। आप यह चुन सकते हैं कि आप अपनी उच्च शिक्षा कैसे हासिल करना चाहते हैं; यदि आप चाहें तो अपने पसन्दीदा क्षेत्रों में अपने सपनों को साकार करने की ओर व्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ सकते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान, आप स्वयं के बारे में जानेंगे, आपको सबसे ज़्यादा क्या पसन्द है और अन्ततः किस चीज़ से आपको वास्तव में खुशी मिलती है। पर यह किताब पालकों और छात्रों को यह दिखाने के लिए भी है कि उच्च शिक्षा पाने की इस पूरी कवायद के अन्य रोचक तरीके भी हो सकते हैं। और यह कि हम सपने देखने का दुस्साहस कर सकते हैं। सोचने का साहस कर सकते हैं। दूसरों से भिन्न होने का साहस कर सकते हैं।

इस तरह के ढाँचे में केन्द्र बिन्दु आप होते हैं। आप तय करते हैं कि सीखना है या नहीं। सुनना है या नहीं सुनना। दोस्त बनना है या नहीं बनना। हाँ, आप ही इस खेल के खिलाड़ी होते हैं और आप ही पूरी तरह ज़िम्मेदार होते हैं। निन्दा या प्रसिद्धि – सब आपका है। आपकी शिक्षा, आपकी ज़िन्दगी, और स्वयं का पूरा उत्तरदायित्व आप पर आ जाता है।

अधिकांश युवा छात्रों की तरह प्रारम्भ में कई आशंकाओं और स्वभावगत झिझक से भरे हुए, मैंने इसी दिशा में आगे बढ़ने का जोखिम उठाया। और इसी यात्रा के अनुभवों को मैं इस किताब के पाठकों के साथ बाँटना चाहूँगी। यह किताब उन विषयों के विस्तार में नहीं जाती जो मैंने सीखे, क्योंकि सभी की रुचियाँ मेरी तरह हों यह ज़रूरी नहीं है। बल्कि यह किताब उन लोगों के बारे में है जिन्होंने अपने अनुभवों और ज्ञान के द्वारा मेरे दृष्टिकोण और मेरी सोच को समृद्ध किया। यह किताब उनके साथ हुई मेरी मुलाकातों और अनुभवों के बारे में है – इसमें कुछ मसाला भी है ताकि किस्सों का स्वाद चटपटा हो।

हर व्यवस्था के अपने फायदे और नुकसान होते हैं, और "अनौपचारिक" शिक्षा, जैसा कि उसे आमतौर पर कहा जाता है, कोई अपवाद नहीं है।



मेरे लिए यह कारगर रही, लेकिन हो सकता है सब के लिए सही न रहे। पर मेरा उद्देश्य इसमें मिली कामयाबियों और नाकामयाबियों, दोनों की ही बारीकियों को सामने रखना है। शायद पाठक कुछ नया और एकदम अलग करने की कोशिश करें। यह प्रक्रिया हमेशा उपस्थित परिस्थितियों के अनुरूप आकार लेगी और ज़रूरी नहीं है कि सब वैसा ही हो जैसा मेरे साथ हुआ था। कम से कम उन गलतियों से तो बचा जा सकता है जो मैंने की थीं।

संयुक्ता

# 1

# एक यात्रा की शुरुआत

हर शुरुआत वास्तव में शुरुआत नहीं होती। पूर्व के अनुभव भविष्य के पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं। जो कुछ हम कर रहे होते हैं वह बहुत हद तक पूर्व में प्राप्त हुए किसी अनुभव के कारण होता है। मेरे मामले में भी यह एक महत्वपूर्ण कारक था।

### कलाक्षेत्र की याद

मेरे माता-पिता, दोनों समाजशास्त्र में प्रशिक्षित थे। पिता नरेन्द्रनाथ, दिल्ली में बैंक की नौकरी छोड़ देने के बाद, मेरी माँ उमाशंकरी और मेरे साथ दादा-दादी के घर हैदराबाद आ गए। मेरे पिता ने लोकायन और आन्ध्र प्रदेश नागरिक स्वातंत्र्य समिति (एपीसीएलसी) आदि संगठनों से जुड़कर सामाजिक कार्यों में भाग लेना शुरू कर दिया। जबकि मेरी माँ ने लोक उद्यमिता संस्थान, उस्मानिया विश्वविद्यालय में काम किया।

हैदराबाद में छह साल रहने के बाद मेरे माता-पिता के मन में अपनी सामाजिक गतिविधियों को किसी गाँव में आधारित करने और ज़मीनी स्तर पर काम करने का विचार आया। किसान बनने और सामाजिक क्षेत्र में काम करने के लिए वे मेरे दादाजी, छोटी बहन लक्ष्मी और मुझे साथ लेकर आन्ध्र प्रदेश के चित्तूर ज़िले में स्थित हमारे पुश्तैनी गाँव वेंकटरामपुरम् आ गए। तब से मेरे माता-पिता ने विभिन्न उद्देश्यों के लिए कई क्षेत्रों में काम किया है, जिनमें प्रमुख हैं कृषि, जल प्रबन्धन, दलितों के भूमि अधिकार, और छुआछूत का मुद्दा। पिछले पन्द्रह सालों के दौरान हम अपनी अधिकांश भूमि पर जैविक खेती करने में सफल हो गए हैं। अब हम नियमित जैविक आम, धान, गन्ना, मूंगफली, नारियल और मौसमी सब्ज़ियाँ उगाते हैं।

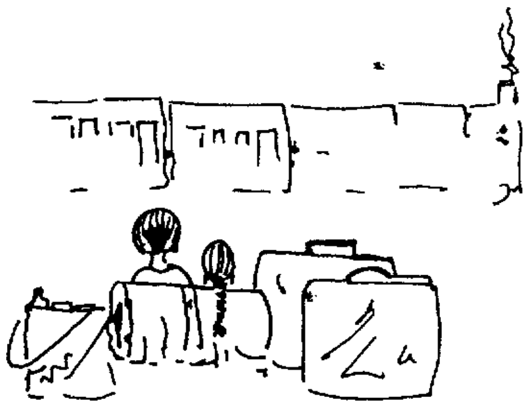

बोरिया-बिस्तर समेत...

मेरे माता-पिता के गाँव आ जाने के थोड़े ही समय बाद मैंने चेन्नई के बेसेन्ट अरुन्डेल सीनियर सेकेण्डरी स्कूल (बीएएसएस) में रहवासी विद्यार्थी के तौर पर दाखिला लिया। यह स्कूल, भरतनाट्यम (भारतीय शास्त्रीय नृत्य) के प्रमुख प्रशिक्षण संस्थान, कलाक्षेत्र फाउण्डेशन से सम्बद्ध है। कलाक्षेत्र प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्यांगना श्रीमति रुक्मिणी देवी अरुन्डेल द्वारा स्थापित किया गया था। उन्होंने भरतनाट्यम की अनोखी शैली विकसित की और कलाक्षेत्र शास्त्रीय नर्तकों और संगीतकारों के लिए आश्रय बन गया। रुक्मिणी अत्ताई बच्चों को प्रेम करती थीं और उन्होंने सीखने के लिए तनाव-मुक्त व दोस्ताना माहौल पर तथा ऐसी शिक्षा पर ज़ोर दिया जो भारतीय संस्कृति के सद्‌गुणों और मूल्यों पर केन्द्रित हो। वास्तव में, उस जगह का वातावरण मुझे उन प्राचीन भारतीय आवासीय विद्यालयों – गुरुकुलों – की याद दिलाता था जिनके बारे में हमने पढ़ा है। मैंने कलाक्षेत्र में रहवासी विद्यार्थी के तौर पर आठ साल (1989-1996) बिताए।

कलाक्षेत्र अलग तरह का स्कूल था। दिन की शुरुआत प्रातःकाल की प्रार्थना से होती थी जो सिल्लियों से पटी और पेड़ों से घिरी हुई एक गोलाकार खुली जगह में होती थी। इस जगह को तपोवन कहा जाता था, ताकि जंगलों में तप करते साधुओं के जैसे वातावरण का आह्वान किया जा सके। रोचक बात यह थी कि तपोवन विभिन्न धर्मों की प्रार्थनाओं से भर जाता था – शमनो मित्रः शम वरुणः, बिस्मिल्लाहिर्रहमनिर्रहीम, और ओ हिडन लाइफ।



हम फूस के छप्पर वाली कक्षाओं में ज़मीन पर पालथी मारकर या कभी-कभी पेड़ों के नीचे बैठते थे। कक्षाओं को प्राकृतिक वायु-संचार को ध्यान में रखकर बनाया गया था जिससे हमें चेन्नई की उमस वाली गर्मियों में भी पर्याप्त राहत मिलती थी। कलाक्षेत्र ठीक समुद्र किनारे स्थित है और वहाँ लगातार समीर बहती रहती है और साथ में होती है लहरों की आवाज़। जब हमने शुरुआत की थी तब हम पूरी स्कर्ट और ब्लाउज़ पहनते थे, और केवल आठवीं के बाद ही हम पावाड़ै-दावणि (आधी साड़ी) पहनने के "हकदार" बने जो तमिलनाडु की पारम्परिक पोशाक है। लड़के कुर्ता-पायजामा पहनते थे। शिक्षक बेहद मित्रवत और स्नेही थे; तथा शारीरिक दण्ड की अनुमति नहीं थी। विद्यार्थी विभिन्न संस्कृतियों, परम्पराओं और पृष्ठभूमियों से आए थे, पर वे सभी बिना किसी झिझक और पूर्वाग्रह के एक-दूसरे के साथ दोस्ताना तरीके से मिलते-जुलते थे।

हालाँकि बेसेन्ट अरुन्डेल एक नियमित सीबीएसई (सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ सेकेन्डरी एजुकेशन) स्कूल था, पर वहाँ नृत्य व संगीत पर बहुत ज़ोर दिया जाता था। अधिकांश छात्र स्कूल के बाद एक घण्टे के लिए कलाक्षेत्र फाइन आर्ट्स कॉलेज जाकर वहाँ उपलब्ध कई ललित कला पाठ्यक्रमों – चित्रकला, गायन, मृदंग, बाँसुरी, वायलिन या वीणा वादन – में से किसी में भाग लेते थे। मैंने भरतनाट्यम में पाँच वर्षीय प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम पूरा किया और दो साल तक शास्त्रीय गायन सीखा।

यों जाते हम स्कूल को...

कलाक्षेत्र में हर साल एक कला उत्सव (कई अन्य उत्सवों के अलावा) आयोजित किया जाता था, जिसके दौरान प्रसिद्ध नर्तक और संगीतकार कलाक्षेत्र के भव्य सभागृह में अपनी प्रस्तुति देते थे। खासतौर पर यादगार होते थे कलाक्षेत्र नृत्यनाटक जो खुद श्रीमती रुक्मिणी देवी द्वारा रचे जाते थे और संस्थान के प्रशिक्षित नर्तकों और संगीतकारों द्वारा प्रस्तुत किए जाते थे। कलाक्षेत्र में कलाओं पर ज़ोर दिए जाने से हमारे भीतर भारत की कलाओं और शिल्पों के प्रति एक गहरा और स्थाई आदर का भाव विकसित हुआ। मैंने सच में उस मौलिक भारतीय सौन्दर्यबोध को सराहना सीखा जो सौन्दर्य और सहजता का मिश्रण है। इस सब के तथा और बहुत कुछ के लिए भी मैं कलाक्षेत्र की ऋणी हूँ।

## स्कूल की पढ़ाई पूरी होना

बारहवीं के अन्त समय में, जब मेरे दोस्त इंजीनियरिंग और चिकित्सा के क्षेत्र में जाने के लिए आवेदन भरने में व्यस्त थे, तब मैं हमारे होस्टल परिसर में स्थित एक विशाल फैले हुए वृक्ष के नीचे खयालों में खोई हुई बैठी थी।

"मुझे क्या करना चाहिए?"

"मैं क्या करना चाहती हूँ?"

पर एक बात के बारे में मैं बिलकुल आश्वस्त थी कि न तो मुझे इंजीनियरिंग करना था, न ही कम्प्यूटर के क्षेत्र में जाना था। ये सब तो बहुत उबाऊ थे....

मुझे जीव विज्ञान तो बहुत प्रिय था (उसके हमारे शिक्षक बहुत अच्छे थे), पर खून देखना नहीं। अतः चिकित्सा-विज्ञान भी मेरे लिए नहीं था।

इसके आगे कुछ साफ तय कर पाना आसान नहीं था क्योंकि मुझे कई सारी चीज़ों में रुचि थी।

शायद जीवविज्ञान में बीएससी?

"पर तीन साल के लम्बे समय तक कौन बैठकर पढ़ेगा? और बीएससी का मैं क्या करूँगी?" मुझे हस्तकलाएँ पसन्द थीं और अपने हाथों (और



पैरों) से कुछ भी करने में मज़ा आता था!

"संगीत, नृत्य, चित्रकला?"

"और रंगमंच? हाँ!!"

पर क्या मैं उसमें अच्छी थी?

"शायद मुझे वकील बनना चाहिए..."

मेरे विचार एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय की ओर छलाँग लगा रहे थे। "मैं किसमें अच्छी हूँ? क्या है जिसमें मुझे सचमुच गम्भीरतापूर्वक जुटना चाहिए? किस व्यवसाय से अच्छा पैसा मिलेगा? बढ़िया भविष्य कहाँ है? पर सबसे खास बात, मुझे वास्तव में क्या करना अच्छा लगेगा?"

पेड़ के नीचे बैठे, मेरी ऐसी इच्छा हो रही थी कि स्वर्ग से कुछ पत्तियाँ दैवीय रूप से आकर मेरे हाथ में गिरें, जिनपर मेरे सभी प्रश्नों के उत्तर लिखे हों। और फिर मैं बस उठ खड़ी होऊँ, अपने कपड़ों से धूल झटकाकर दौड़ पड़ूँ कि "यूरेका!! मुझे हल मिल गया!!"

परन्तु ऐसा नहीं हुआ, और इससे भी बुरा यह कि यह तो बस शुरुआत थी, बर्फ की चट्टान का सिर्फ ऊपरी सिरा। इस बात से मदद मिली कि कई दूसरे स्कूलों के रवैये के विपरीत, मेरे भीतर यह बात नहीं बिठाई गई थी कि परीक्षाओं में बहुत ऊँचे अंक लाना और फिर दर्जनों प्रवेश-परीक्षाओं में बैठना ही मेरा एकमात्र और सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिए। मेरे माता-पिता ने दुविधाओं के इस दौर में मेरी बातें सुनीं और हमारे बीच एक तरफ हर व्यवसाय के अच्छे-बुरे पहलुओं और दूसरी तरफ मेरी इच्छाओं को लेकर बहुत सारी चर्चाएँ हुईं। आखिरकार, उन्होंने सुझाया कि मैं एक साल की छुट्टी लूँ, घूमूँ और विकल्पों को अच्छे से देखूँ। "आस-पास देखने" की प्रक्रिया के दौरान मैं अपनी रुचि के कुछ क्षेत्रों में थोड़ा-बहुत वास्तविक कार्य भी कर सकती थी। इसके बाद मैं यह चुनाव कर सकती थी कि अपना अन्नम और पप्पू (दाल-भात का रोज़मर्रा का भोजन) कमाने के लिए मैं क्या करना चाहूँगी।

शानदार विचार था। इसी दिमागी अवस्था में मैंने राहुल एल्वैरेस द्वारा लिखी गई किताब "फ्री फ्रॉम स्कूल" पढ़ी। राहुल भी दसवीं के बाद एक

साल के लिए शैक्षिक पढ़ाई से "छुट्टी" लेकर ऐसी गतिविधियों में सक्रिय रूप से जुट गया था जिनमें उसकी बहुत रुचि थी। उसे जानवरों की दुनिया और सरीसृप परिवार – खासतौर पर साँपों से बहुत प्यार था। सरीसृपों का व्यावहारिक और प्रायोगिक ज्ञान हासिल करने में हुए उसके सभी अनुभव इस छोटी-सी किताब में बताए गए हैं। इस किताब से मुझे और भी प्रोत्साहन मिला और वह "शुरुआती धक्का" मिला जिसकी मुझे बेहद ज़रूरत थी।

तो कोई शुरुआत कैसे करे? खिलाड़ी की तरह इधर-उधर का जायज़ा लिया जाए? मैंने ठीक यही किया।

## खेल-खेल में

तो जहाँ मेरी उम्र के दूसरे युवा लोगों ने कर्तव्यपूर्वक कॉलेजों और कक्षाओं में दाखिला लिया वहीं मेरी पहली मंज़िल – जहाँ मेरी माँ मेरे साथ थी - - अहमदाबाद थी। सुदर्शन खन्ना अहमदाबाद में स्थित राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान (एनआईडी) में औद्योगिक डिज़ाइन के प्राध्यापक हैं। पढ़ाते तो वे हैं ही, पर कुछ और करने के लिए भी समय निकाल लेते हैं... वे बहुत बढ़िया खिलौने बनाते हैं! सुदर्शन जी ने खिलौने बनाने की पारम्परिक भारतीय कला पर व्यापक तरीके से शोध किया है और भारत में तथा बाहर भी बच्चों के लिए स्कूलों में कई कार्यशालाएँ संचालित की हैं। उन्होंने अन्ना विश्वविद्यालय, चेन्नई में हुए पारम्परिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी सम्मेलन के दौरान भी खिलौने बनाने की स्वदेशी कला पर एक कार्यशाला आयोजित की थी। उसी सिलसिले में मेरी माँ को उनके बारे में पता चला था। माँ ने उनको पत्र लिखा और वे मुझे सिखाने को तैयार हो गए कि खिलौने कैसे बनते हैं।

हम सुदर्शन जी के साथ लगभग दो हफ्ते तक रहे, और मैंने विभिन्न पदार्थों जैसे कागज़, मिट्टी, नली, धातु आदि से विभिन्न प्रकार के भारतीय खिलौने बनाना सीखा। ये सरल दिखते और प्रतीत होते हैं, पर इनको बनाने बैठिए तब आपको पता चलेगा कि "सरल" वास्तव में कितना कठिन है। ये खिलौने अपने अनोखे दृश्य और ध्वनि प्रभाव तभी पैदा करते हैं जब आप उन्हें एकदम सही ढंग से बनाएँ। इनको बनाने से विज्ञान की कुछ बुनियादी धारणाएँ समझने में आपको मदद मिलती है। बनाने वाले



की ज़रा-सी लापरवाही हुई नहीं, कि खिलौने काम नहीं करेंगे। मैं उन्हें कहती हूँ – सीधे-सरल पर ज़िद्दी खिलौने। ज़रा-सा ज़्यादा बड़ा छेद, केन्द्र से ज़रा-सा दूर हुआ छेद, ज़रूरत से ज़्यादा पतला या मोटा कागज़, ज़रा ज़्यादा ही गीली मिट्टी – और आप मान लें कि आपके हाथ निराशा ही लगेगी। खिलौना अपना करतब दिखाने से इन्कार कर देगा।

जब आप इन ज़िद्दी प्राणियों के मिज़ाज को समझना शुरू कर देते हैं तो आप खिलौने के उस कारीगर की वाकई सराहना करते हैं जिसने यह समझ लिया होता है कि इन "नटखट बच्चों" से कैसे काम करवाना है। इस तरह के अधिकांश खिलौने ग्रामीण भारत में खुद बच्चों द्वारा सड़कों पर पड़े रद्दी माल और प्राकृतिक तौर पर सुलभ अन्य पदार्थों से बनाए जाते हैं। विज्ञान की इस तरह की सहज समझ उन्हें किसने दी? क्या उन लोगों को इसका इल्म भी है कि उनके पास ऐसी समझ है?

सुदर्शन जी की दो लड़कियाँ, सुरभि और गिरिजा (तब लगभग 12 और 10 साल की) तब से ही खिलौने बनाने में उस्ताद थीं और वे मेरी शिक्षिका भी बन गईं। अक्सर, जब मैं आश्चर्यचकित हो सोच रही होती थी कि मेरे बनाए हुए खिलौने ने काम क्यों नहीं किया, सुरभि की तरफ से तुरन्त जवाब आता था, "यह बहुत मोटा हो गया दीदी!" कभी-कभी हम दोनों ही किसी "पक्षी" से हरकत करवाने में असफल हो जाते, और तब हमें विशेषज्ञ की सलाह के लिए सुदर्शन जी के पास जाना पड़ता। तब से हर साल नववर्ष पर खन्ना परिवार मेरे लिए शुभकामना सन्देश के रूप में एक खिलौना भेजता आ रहा है!

अहमदाबाद प्रवास के दौरान हम प्रसिद्ध कैलिको वस्त्र संग्रहालय गए। यह संस्थान जीरा साराभाई के दिमाग की उपज है, और यहाँ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बनाए जाने वाले कपड़े की किस्मों का अतिउत्तम और दुर्लभ संग्रह उपलब्ध है, जिनमें से कुछ तो सत्रहवीं शताब्दी जितनी पुरानी हैं। हमने मार्गदर्शक की मदद से उसका भ्रमण किया और वहाँ रखे कपड़ों ने अपनी जटिल कारीगरी, रंगों और सुन्दरता से हमें मंत्रमुग्ध किया।

एक शाम हम गाँधीजी के साबरमती आश्रम गए जो आज एक गन्दे नाले की तरह बहने वाली साबरमती नदी के किनारे स्थित है। आश्रम के शान्त वातावरण और गेट के बाहर स्थित सड़क के कोलाहल में एकदम महसूस

होने वाली विषमता है, जैसे वे दो अलग-अलग दुनिया हों, एक-दूसरे से बेपरवाह। सन् 1915 में बना यह आश्रम भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान कई ऐतिहासिक घटनाओं का गवाह रहा है। नंगे पैरों के नीचे ठण्डे फर्श को महसूस करना भर ही विनम्र बनाने वाला अनुभव था। हमने ऐसी कई वस्तुएँ भी देखीं जो तब दैनिक उपयोग में आती थीं जब गाँधी जी आश्रम में रहते थे जैसे – लिखने की मेज़, गद्दे, बरतन और इनके साथ ही गाँधी जी की कुछ पाण्डुलिपियाँ, तस्वीरें और पत्र भी। मेरी आँखें एक छोटे, बहुत ही प्यारे नीले रंग के मखमली बटुए पर पड़ी जिस पर एक फूल कढ़ा हुआ था। यह गाँधी जी ने कस्तूरबा को भेंट किया था।

अहमदाबाद से हम बड़ौदा आ गए जहाँ हम आनन्द कुमार के साथ रुके। आनन्द अंकल मेरी माँ सहित कई लोगों के लिए एक मित्र-चिन्तक-मार्गदर्शक की तरह हैं और इसलिए मेरी माँ ने सोचा कि अच्छा होगा यदि उनकी सूझबूझ का भी कुछ लाभ उठाया जाए। हमेशा बेदाग स्वच्छ, इस्त्री किया हुआ कुर्ता पहनने वाले आनन्द उन सर्वाधिक खुशमिज़ाज लोगों में से एक हैं जिनसे मैं मिली हूँ। मेरी कैरियर योजनाओं के बारे में हमारी उनसे लम्बी बातचीत होती रही। ऐसी ही एक बातचीत की मुझे जीवन्त याद है। हम बैठे हुए चाय पी रहे थे, वे बोले, "यदि आप दो गिलास लें, एक पानी से भरा और एक खाली.....तथा मान लें कि एक पूरे साल तक आप छह घण्टे रोज़ाना एक गिलास से दूसरे गिलास में पानी डालते रहेंगे। यह आसान बात है। पर आप वह सब जान जाएँगे जो आपके, गिलास के, पानी के और एक गिलास से दूसरे में पानी डालने की क्रिया के बीच घटित होता है। हो सकता है कि आप इस ज्ञान को शब्दों में न व्यक्त कर पाएँ, पर तब तक आप बहुत कुछ सीख चुके होंगे। अतः आप कोई भी कार्य करें, उसे पूरी तरह से और समग्रता में समझने के लिए आपको एक निश्चित अवधि और व्यवस्थित प्रयास की ज़रूरत होती है। फिर आप तय कर सकते हैं कि वह काम जारी रखना है या बन्द कर देना है।" यह बहुत महत्वपूर्ण सलाह थी और तब से मैंने इसे प्रयोग में लाने की कोशिश की है।

जिस दिन मैं बड़ौदा के एम.एस. विश्वविद्यालय जा रही थी, मेरी माँ ने मुझे गेट पर ही छोड़ दिया और कहा कि मैं सारी ज़रूरी जानकारी लेकर घर वापस आ जाऊँ। अब मैं एकदम अकेली थी और किसी को नहीं जानती थी। एक रहवासी स्कूल के संरक्षित वातावरण में बड़े होने के बाद यह पहला मौका था जब किसी बड़े के साथ के बगैर एक नई जगह में कदम रखना था।



मैं एक कमरे में गई जो दफ्तर जैसा दिख रहा था। मैंने अपना परिचय देते हुए बताया कि मैं संस्थान का परिसर देखना चाहती हूँ और उपलब्ध पाठ्यक्रमों के बारे में जानना चाहती हूँ। फिर मैं एक विभाग से दूसरे विभाग में गई।

कुम्हारी, मूर्तिकला, ललित कला, दृश्य संचार आदि; छात्रों और शिक्षकों से मिली जो कक्षाओं में काम कर रहे थे (चूँकि वह अवकाश का समय था, अतः उनके पास थोड़ा खाली समय था) और कुछ विवरणिकाएँ तथा पाठ्यक्रम विवरण-पत्र इकट्ठे किए। मैं अपने दिन भर के काम से खुश थी और घर वापस पहुँचने पर मैंने माँ को हर बात का सविस्तार ब्यौरा दिया।

दो दिन बाद हम बड़ौदा से मुम्बई के लिए निकले। चूँकि मैं मुम्बई में एक महीने रुकने की योजना बना रही थी, अतः मेरी माँ ने मुझे उनकी मित्र रजनी बख्शी के घर छोड़कर गाँव लौटने का निर्णय किया। रजनी आंटी एक स्वतंत्र पत्रकार हैं। वे *द हिन्दु* के लिए "क्रियेटिव क्वैस्ट" स्तम्भ लिखती थीं। वे *बापू कुटी* की लेखिका भी हैं जो युवा सामाजिक कार्यकर्ताओं के बीच एक लोकप्रिय किताब है। मेरे मुम्बई में कुछ समय रुकने का उद्देश्य था अलग-अलग व्यवसायों के लोगों से परिचित होना और समझना कि वे अपना जीवन कैसे जीते हैं। इस तरह के कार्यक्रम के लिए मुम्बई से बढ़िया और कौन-सा स्थान हो सकता है – भारत का सबसे विविध और सर्वदेशीय नगर।

रजनी आंटी के साथ रुकना विशुद्ध आनन्द था। उनके बारे में सबसे अच्छी बात है उनकी यह क्षमता कि वे अपने आप को पूरी तरह रूपान्तरित कर किसी के भी साथ उसके स्तर पर पहुँचकर सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। एक पल वे किसी खिलखिलाते बच्चे को दुलार रही होंगी तो अगले ही पल किसी दोस्त के साथ स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं पर एक गहरी बौद्धिक चर्चा में मशगूल हो जाएँगी। बहुत अच्छी अभिनेत्री होने के कारण वे हमेशा आपको जमकर हँसाती रहती हैं। मुम्बई में जहाँ भी

मैं गई, उसकी व्यवस्था करने में उन्होंने मदद की।

हम कर्नाटक संगीत की प्रसिद्ध गायिका अरुणा साईराम से मिले। मेरी माँ ने उन्हें नर्तिका-नृत्यनिर्देशिका चन्द्रलेखा की रचना "भिन्न प्रवाह" में प्रस्तुति देते देखा था। माँ ने कहा कि वे उनकी प्रस्तुति से इतनी भावुक हो गईं कि उनके पास जाकर उनको गले लगा लिया। अम्मा की बड़ी इच्छा थी कि मैं अपने मुम्बई प्रवास के दौरान उनसे मिलूँ।

मेरे खुद को अलग ढंग से शिक्षित करने के इस पूरे विचार से अरुणा जी उत्साहित थीं और उन्होंने अपनी नित्यचर्या तथा रियाज़, जो गम्भीर शास्त्रीय संगीतज्ञों के लिए ज़रूरी कड़ा अभ्यास है, के बारे में मुझसे बात की। उन्हें हर प्रकार का संगीत पसन्द था – पॉप, रॉक, पश्चिमी शास्त्रीय संगीत, फिल्म संगीत, जैज़ सभी! वे स्वर संवर्धन के लिए प्रशिक्षण लेने जर्मनी जा चुकी थीं। उनके पास एक समृद्ध और गहरी आवाज़ है और अपनी एक मिश्र-संगीत (फ्यूज़न) प्रस्तुति में उन्होंने जर्मन संगीतकारों के साथ काम भी किया है।

अपने स्वर संवर्धन प्रशिक्षण को समझाते हुए वे बोलीं, "बाथरूम के भीतर गाते समय जो आत्मविश्वास मुझमें होता था वैसा कभी श्रोताओं के सामने गाते समय नहीं होता था।"

क्या गायक वाकई मानते हैं कि बाथरूम में उनका गाना बेहतर होता है? मैं सोचती थी कि यह आमतौर पर गैर गायकों द्वारा कही जाने वाली बात है!

"मैं अपनी आवाज़ में वह आत्मविश्वास पैदा करना चाहती थी," उन्होंने आगे कहा।

उन्होंने मुझसे गाने को कहा। प्रसिद्ध गायिका अरुणा साईराम मुझसे गाने को कह रही थीं!

"मैं क्या गाऊँ?" पर मेरा हृदय पहले ही अपनी ताल देने लगा था।

"कुछ भी – जो भी तुम्हें ठीक लगे," वे बोलीं।

"शास्त्रीय, अर्धशास्त्रीय, फिल्मी.....?"

"प्रत्येक का एक गीत सुनाओ," कहते हुए वे हँस दीं।



मैंने कल्याणी राग में एक त्यागराज कृति गाई, एक साईं भजन गाया और "दिल है कि मानता नहीं" फिल्म का शीर्षक गीत गाया। जब उन्होंने यह कहा कि उन्हें "दिल है कि मानता नहीं" सबसे अच्छा लगा तो कह नहीं सकती कि मैंने खुद को रोमांचित अधिक महसूस किया या शर्मिन्दा! तब से वे मुझे चेन्नई में अपनी सभी संगीत सभाओं के लिए निमंत्रण भेजती आ रही हैं।

चित्रकारी एक ऐसा शौक था जिसमें मुझे हमेशा मज़ा आया। मैं देखना चाहती थी कि एक चित्रकार की ज़िन्दगी कैसी होती है। मैं एक युवा व्यावसायिक चित्रकार प्रीति कन्नन से मिली, जिनकी उम्र तीस के करीब थी। इतनी कम उम्र में ही वे भारत में और विदेश में अपनी प्रदर्शनियाँ लगा चुकी थीं। हालाँकि हम पहली बार मिल रहे थे पर हम लोगों में खूब जमी और मैंने उनके साथ दो दिन बिताए। वे बहुत ही ऊर्जावान हैं और उनकी रुचियों में खाना बनाने से लेकर शरीर को चुस्त रखना और पढ़ना शामिल है। उनके पति रामगोपाल वर्मा प्रोडक्शन के लिए काम कर रहे थे और कुछ काम से बाहर गए हुए थे। हम लोगों ने बड़े मज़े में नई हिट फिल्म "रंगीला" के बारे में गपशप की।

वे अपने चित्रों पर काम कर रही थीं जो जल्द ही अमेरिका की एक कलादीर्घा में प्रदर्शित होने वाले थे। चित्रों की इस श्रृंखला में कोई छवियाँ

**मुझे गाने में मज़ा आता था...**

नहीं थीं। उनमें ब्रश के स्पर्श से रचा गया रंगों का ऐसा तालमेल था जो गहराई का भ्रम पैदा करता था। जब मुझे भी उनके कैन्वस के छोटे-से हिस्से को चित्रित करने का मौका मिला मैं तो रोमांचित हो गई। उन्होंने मुझसे रंगों के बारे में बात की और दिखाया कि कैसे कुछ खास रंग "भीतर जाते" प्रतीत होते हैं और कुछ "बाहर निकलते" से लगते हैं। उन्होंने मुझे भारत और पश्चिम के कला-परिदृश्य पर अपने विचार बताए और यह समझाया कि एक शौकिया कलाकार की तरह "संघर्ष" करने का क्या मतलब होता है।

"अमेरिका में हुई एक प्रदर्शनी में मैंने एक चित्र देखा। एक विशाल कैन्वस जो बस एक छोटे-से सफेद तारे के अलावा पूरी तरह से काला पुता था, और उसे शीर्षक दिया गया था, "एकाकी तारा"। और....... क्या तुम अनुमान लगा सकती हो कि उस पर कितनी कीमत की चिट लगी होगी? 30,000 अमरीकी डॉलर! क्या तुम कल्पना कर सकती हो!" वे विस्मित स्वर में बोल पड़ीं।

उन्होंने कहा कि यदि मुझे सचमुच में वह कला सीखने में दिलचस्पी हो तो वे चेन्नई के अपने एक कलाकार मित्र से मेरा सम्पर्क करा देंगी और उन्होंने मुझे उस मित्र का फोन नम्बर भी दिया।

किसी भी युवा की भाँति मुझे भी सितारों की दुनिया गुदगुदाती थी और मुम्बई उस दुनिया की केन्द्र-स्थली थी। इसे मैं बिना देखे कैसे छोड़ सकती थी? तो हम निम्बस प्रोडक्शन द्वारा निर्मित किए जा रहे किसी हिन्दी सीरियल की शूटिंग देखने के लिए एक स्टूडियो गए। रजनी आंटी निर्माता को जानती थीं। जिस सेट पर सीरियल की शूटिंग चल रही थी उसमें एक बाथरूम था, एक बैठक थी, एक पुलिस-स्टेशन था और एक जेल भी थी। सभी एक ही छत के नीचे और साथ में घूमने वाली दीवारें थीं जो कुछ पलों में ही शयनकक्ष को जेल में बदल सकती थीं। जो दृश्य उस दिन फिल्माया जा रहा था वह जेल के सेट पर था। निर्देशक अपने तीन सहायकों के साथ एक अन्य कमरे में तीन कम्प्यूटरों के सामने बैठे थे। प्रत्येक कम्प्यूटर ने अभिनेता को अलग-अलग कोणों से दिखाया और मुझे बताया गया कि दृश्य को फिल्माने के बाद वे उस कोण को चुनेंगे जो सबसे बेहतर निकलकर आएगा। शॉट (दृश्य) के हर पक्ष की लगातार निगरानी हो रही थी और अभिनेता हर पुनरावृत्ति (रीटेक) के साथ अपना



सर्वश्रेष्ठ देने की कोशिश कर रहा था। कभी वह अपने मनोभावों को समुचित रूप से नहीं दर्शा पाता था और कभी अपने संवाद ही भूल जाता और कहता, "क्षमा करें, सर। एक और बार सर।"

फिल्म *पाकीज़ा* का ट्रेन वाला दृश्य तथा *मुगले आज़म* के कुछ दृश्य इसी स्टूडियो में फिल्माए गए थे। नकली ट्रेनें और नकली गाँव, वहाँ सब थे। बॉलीवुड के कई प्रसिद्ध फिल्मी दृश्यों और अभिनेताओं के मूक गवाह। फिल्म को फिल्माना बड़ा भारी कार्य है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति – स्पॉट बॉय से लेकर मुख्य कलाकार – सही समय और स्थान पर अपना योगदान देता है। यह विडम्बना है कि इतने कड़े श्रम के बाद आज के समय में निर्मित होने वाली अधिकांश फिल्में बिलकुल घटिया स्तर की होती हैं। और हाँ, टिकिट खिड़की (बॉक्स ऑफिस) पर फिल्म के असफल हो जाने का जोखिम तो सदा रहता ही है। हमने इस अनुभव के लिए निर्माता को धन्यवाद दिया और वापस रवाना हो गए।

"क्या मैं तुम्हारे लिए आमिर खान के साथ मिलने का समय तय कर दूँ?" फोन हाथ में उठाए हुए रजनी आंटी ने पूछा जैसे अगले ही पल आमिर खान लाइन पर होगा!

मैं इतनी ज़्यादा रोमांचित और चिन्तित थी कि मैं कुछ कह ही नहीं पाई। "हे भगवान! मैं क्या करूँगी? मैं उससे क्या कहूँगी?"

"दुर्भाग्य! वह विदेश गया हुआ है," ज़ोर से फोन नीचे रखते हुए आंटी बोलीं।

"वाकई? दुर्भाग्य है," मैंने कहा, हालाँकि मैंने राहत की साँस ली।

इस घटना के कई दिन बाद तक मैं कल्पना करते हुए अपने मन में अपने स्वप्न-नायक से मिलने के दृश्य का अभिनय करती रही।

एक दिन रजनी आंटी ने अपना "प्राचीन" टाइपराइटर निकाला और मुझे एक किताब दी *टाइपराइटर सीखें*। और इस तरह नियमित रूप से रोज़ एक घण्टा पाठों का अभ्यास करके मैं खुद से टाइप करना सीखने लगी। वह बुनियादी कौशल, जिसकी विचारपूर्ण शुरुआत आंटी ने कराई, बहुत ही उपयोगी रहा है।

मुम्बई ने मुझे कई बातों को पहली बार अनुभव करने का मौका दिया। मैंने

दो नाटक देखे। अँग्रेज़ी में "हैमलेट" जो प्रसिद्ध पृथ्वी थियेटर में खेला गया था (मुझे यकीन था कि इस बन्दे हैमलेट का दिमाग कतई ठीक नहीं था!) और हिन्दी का एक हास्य नाटक जो नादिरा बब्बर द्वारा निर्देशित किया गया था। मैं हिन्दुस्तानी संगीत की अनेक सभाओं में भी गई और सभी में मुझे मज़ा आया। मुम्बई में ही मैंने पहली बार मैक्सिकन और चाइनीज़ खाना खाया और हाँ बेहद गर्म बटाटा (न कि आलू) वड़ा तो खाया ही!

नसरीन फ़ज़लभॉय, जो मुम्बई विश्वविद्यालय में प्राध्यापिका हैं और दिल्ली विश्वविद्यालय से मेरी माँ की मित्र हैं, ने मुझे अपने फार्म-हाउस आने के लिए निमंत्रित किया, जो मुम्बई के निकट स्थित पर्वत स्थल लोणावला में है। यह बहुत ही प्यारा अनुभव था। जब हम वहाँ छुट्टी मना रहे थे तो नसरीन आंटी ने मुझे मैक्रामे (गाँठधार धागे का काम) के पहले पाठ पढ़ाए। उन्होंने मुझे कुछ विधियाँ सिखाईं, और मैंने रजनी आंटी को उपहार के तौर पर देने के लिए दीवार पर टाँगने की एक छोटी-सी कलाकृति बनाई।

लोणावला से लौटने के बाद हमने सोचा कि मुम्बई संग्रहालय जाकर मुम्बई के इतिहास के बारे में जानना अच्छा रहेगा। हमने कई अन्य चीज़ों के साथ ही कुछ तस्वीरें, पुरानी मुम्बई की रेखाकृतियाँ तथा कुछ अन्य शिल्पकृतियाँ देखीं। मैं यह जानकर सच में आश्चर्यचकित हुई कि आज की मुम्बई वास्तव में ऐसे द्वीपों का समूह है जो आपस में जुड़ गए और एक भूपिण्ड बन गया – मुम्बई शहर।

मुझे अपने मुम्बई प्रवास का हर क्षण प्यारा लगा।

महीने के अन्त में मेरे पिता आ गए और हम घर वापस आने के लिए चल दिए। हम एक सभा में शामिल होने के लिए डहाणु में रुके जो महाराष्ट्र का एक छोटा-सा कस्बा है। हर्षमन्दर, जो तब भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) के अफसर हुआ करते थे, ने एक छोटे से आदिवासी गाँव में यह सभा बुलाई थी। मेरे पिता सहित विभिन्न क्षेत्रों के "सामाजिक रूप से सजग" हर्षमन्दर के कई मित्रों और कुछ अन्य आईएएस अधिकारियों ने सभा में भाग लिया। चर्चा का मुख्य विषय था – सूचना का अधिकार। अरुणा रॉय और निखिल डे, जो मज़दूर किसान शक्ति संगठन के अगुआ हैं, ने ब्यौरेवार और बड़ा ही रोचक विवरण दिया कि किस तरह वे पहली



बार गाँवों में गए और गाँव वालों को यह जानने के अधिकार की माँग करने के लिए लामबन्द किया कि गाँवों के सामाजिक कल्याण के लिए आबंटित की जा रही सारी राशि और संसाधन कहाँ गायब हो जा रहे हैं। उन्होंने जन सुनवाइयों के किस्से भी सुनाए जिनमें सम्बन्धित सरकारी अधिकारियों को उत्तरदाई ठहराया गया और उन्हें गाँव वालों के सवाल झेलने पड़े।

डहाणु खुद भी एक क्रान्ति का केन्द्र रहा है। यहाँ प्रदीप प्रभु और शिराज़ बलसारा की अगुआई में काश्तकारी संगठन दो दशकों से भी ज़्यादा समय से लगातार काम कर रहा है ताकि इस क्षेत्र के आदिवासी अपने वन संसाधनों पर नियंत्रण पा सकें।

सभा में इसी तरह के संगठनों से आए कुछ व्यक्तियों ने भी अपने अनुभव बाँटे। सभा की अध्यक्षता श्री एस.आर. शंकरन ने की जो बड़े ही विनीत सेवानिवृत्त आईएएस अधिकारी और कार्यकर्ता हैं। उन्होंने कई दशकों तक अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सशक्तीकरण के लिए काम किया था। इतने निस्वार्थ और पूरी तरह से समर्पित लोगों के बीच बैठकर उनको देखना अपने आप में मेरे लिए एक अद्भुत मौका था। हर व्यक्ति अपने-अपने कार्यक्रमों की योजना बनाकर अपने ढंग से काम कर रहा था, लेकिन सभी एक दूसरे से प्रेरणा लेते रहते थे।

"क्या तुम मेरे साथ चलोगी? मुझे कुछ मदद चाहिए," तेज़ी से आगे बढ़ते हुए शिराज़ आंटी ने पूछा।

जब हम गाँव की एक झोंपड़ी पर पहुँचे, उन्होंने मुझे बताया कि उसमें अस्सी पार उम्र का एक वृद्ध आदमी रहता था जिसकी ट्रेन में चढ़ते समय गिरने से हड्डी टूट गई थी। उसे पास के एक अस्पताल में भर्ती कराया गया था और उन्हें उसकी पिछली चिकित्सकीय रिपोर्टों की ज़रूरत थी। हमें उस छोटी-सी झोंपड़ी में उन रिपोर्टों को ढूँढना था।

जैसे ही हमने वह कमज़ोर दरवाज़ा खोला, तो हम एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच गए। ऐसा लगता था कि यह वृद्ध आदमी बहुत ज़्यादा सक्रिय था और हमेशा कुछ न कुछ करता रहता था। निश्चित ही यह हड्डी टूटने वाला प्रसंग भी इस बात का सबूत था। उसका कमरा बहुत साफ और व्यवस्थित था। वहाँ एक खटिया थी और एक दीवार पर मढ़ी हुई उसकी

एक पुरानी श्वेत-श्याम तस्वीर टँगी थी। इतना ही नहीं, उसने कैलेण्डरों में से काटकर गाँधीजी, इन्दिरा गाँधी, राधाकृष्णन, ईसा और आधे चाँद व सितारे के साथ बने एक मकबरे की तस्वीरें भी मढ़वाई हुई थीं।

हम जोश के साथ उन रिपोर्टों की खोज में लग गए। हमने उसकी पेटी बाहर निकाली और उसके कपड़ों व किताबों के नीचे देखा। उसकी पेटी में रखी हुई ढेर सारी पुरानी किताबों को देखकर लगा कि वह काफी पढ़ाकू किस्म का व्यक्ति है। आधा घण्टे के बाद, हम तलाश छोड़ने ही वाले थे क्योंकि हम तब तक भी रिपोर्टों का पता नहीं लगा पाए थे। यह व्यक्ति तो इतना व्यवस्थित प्रतीत होता है! क्या उसने अपनी रिपोर्टें सम्हालकर नहीं रखी होंगी?

और शिराज़ आंटी को वे मिल गईं। एक खाली "फ्रूटी" का पिचका हुआ डिब्बा। उसके अन्दर, सफाई से मुड़ी हुई, चिकित्सकीय रिपोर्टें रखी हुई थीं।

डहाणु से मैं हमारे गाँव वापस आ गई और साथ में मेरे सिर पर मँडराता हुआ "आगे क्या" का बड़ा-सा बादल था।

## द स्कूल – केएफआई

जैसा कि नाम से पता चलता है "द स्कूल" का सर्वश्रेष्ठ शिक्षण संस्थान बनने का इरादा है। "द स्कूल" एक गैर आवासीय संस्था है और यह चेन्नई में अड्यार के विस्तृत थियोसॉफिकल सोसायटी परिसर के सामने स्थित है। "द स्कूल" बीसवीं सदी के प्रसिद्ध दार्शनिक और चिन्तक जे. कृष्णमूर्ति द्वारा स्थापित इस तरह की कई संस्थाओं में से एक है। इन स्कूलों में शिक्षण और पढ़ाई जे. कृष्णमूर्ति के शिक्षा सम्बन्धी विचारों पर आधारित है तथा इनका ज़ोर व्यक्तित्व के विकास पर है।

जेके, जैसा कि अभी भी चर्चाओं में लोकप्रिय अन्दाज़ में कृष्णमूर्ति को कहा जाता है, मानते थे कि शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए बच्चों में स्वतंत्र सोच की क्षमता जगाना और उन्हें इस तरह तैयार करना कि वे दुनिया की चुनौतियों का संवेदनशीलता, बुद्धिमत्ता और मानवोचित ढंग से सामना कर सकें। कृष्णमूर्ति शिक्षण केन्द्रों में एक ऐसा परिवेश बनाने पर ज़ोर दिया जाता है जहाँ शिक्षक और विद्यार्थी दोनों लगातार संवाद, जाँच-



पड़ताल और चर्चा द्वारा एक साथ मिलकर सीखने की प्रक्रिया से गुज़रते हैं। इसलिए विद्यार्थियों को आत्मविश्लेषण करने तथा निडरता से प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। शिक्षण के तरीके बहुत सृजनात्मक हैं और शिक्षक लगातार नए-नए तरीके विकसित करते रहते हैं ताकि विद्यार्थियों को रोज़मर्रा के विषय रोचक लगें।

स्कूल के एक शिक्षक, अनन्त पद्मनाभन का मेरी माँ से मिलना हुआ और उन्होंने माँ को एक उच्च शिक्षा कार्यक्रम (प्रोग्राम फॉर हायर एजुकेशन – पीएचई) के बारे में बताया जो वे लोग शुरू करने की योजना बना रहे थे। और मेरे माता-पिता के इस सुझाव पर ही कि मुझे इस कार्यक्रम के बारे में और पता लगाना चाहिए, मैं जून 1996 में "द स्कूल" आई।

दफ्तर अँग्रेज़ों के ज़माने के बड़े-से भवन में था। एक कमरे में प्राध्यापक गौतम बैठे थे, जो दुबली-पतली काया के गोरे व्यक्ति थे। उनके सिर पर बाल नहीं थे तथा चेहरे पर एक मित्रवत मुस्कान थी। उनके दफ्तर के दरवाज़े खुले हुए थे ताकि प्राकृतिक रोशनी भीतर आ सके और हवा का संचार हो सके, पर उनके खुले होने से तुरन्त ही मुझे यह अनुभूति मिली कि मेरा वहाँ स्वागत है। हमने पीएचई कार्यक्रम के बारे में लम्बी बातचीत की। "वाह! यह सब काफी रोचक है", श्री गौतम के सारा विवरण समझा चुकने के बाद मैंने सोचा।

श्री गौतम के अनुसार पीएचई, "आत्मनिर्भर" विद्यार्थियों के लिए बारहवीं के बाद खुद को शिक्षित करने का एक मौका था। स्कूल के द्वारा तैयार किए गए एक विवरण-पत्र में कार्यक्रम के विस्तृत क्षेत्रों को समझाया गया है:

क्षेत्र 1: *दार्शनिक* – कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं की रोशनी में यह समझ विकसित करना कि मनुष्य होने का क्या मतलब है। बातचीत और अध्ययन से तथा कृष्णमूर्ति की वार्ताओं व संवादों की वीडियो रिकॉर्डिंगों को देखकर व सुनकर इस क्षेत्र की विस्तृत जानकारी हासिल की जाती है। धार्मिक और दार्शनिक सामग्री के पूरक अध्ययन को भी प्रोत्साहित किया जाता है।

क्षेत्र 2: *वैयक्तिक और समकालीन महत्व के क्षेत्रों में काम करना* – विद्यार्थी को उचित साधनों जैसे अध्ययन, प्रशिक्षण, भ्रमण और प्रदर्शन

द्वारा अपनी रुचि के चार या पाँच अलग-अलग क्षेत्रों से जुड़ना होगा और काम करना होगा। इन रुचियों को विस्तार से देखने का तरीका विषय पर तथा उस गहराई पर निर्भर करता है जहाँ तक विद्यार्थी जाने की इच्छा रखता है। अध्ययन के इस मार्ग का मकसद है कि छात्र अपनी गहरी रुचियों और अनुकूल कार्यक्षेत्रों के मार्ग पहचाने तथा सिर्फ जीविका कमाने तक सीमित न रहकर उससे आगे जाने की प्रेरणा हासिल करे।

क्षेत्र 3: *छात्र को पत्राचार (दूरस्थ शिक्षा) द्वारा अपनी पसन्द के विषय में स्नातक डिग्री पूरी करना होगी* – यह पढ़ाई छात्रों को स्वयं खोजे गए साधनों द्वारा पूरी करना होगी जिसके लिए स्कूल द्वारा सुझाव दिए जाएँगे। पर स्कूल शैक्षिक योगदान की कोई सीधी ज़िम्मेदारी नहीं लेता।

रोचक... पर तीन साल के लिए? मैं स्कूल में रहते हुए इतने लम्बे समय तक क्या करूँगी? चूँकि मैंने प्रारम्भिक तौर पर "एक साल की छूट" का कार्यक्रम तय किया था, मुझे दो बार सोचना पड़ा। हालाँकि यह नया पाठ्यक्रम बहुत कुछ उसी तर्ज़ पर था जैसा कि मैं करना चाहती थी। पर समयावधि की समस्या थी। प्राचार्य ने मुझे इस बारे में सोचने को और दो हफ्ते बाद अपना निर्णय बताने को कहा।

पीएचई की जिस बात ने मुझे सबसे ज़्यादा खींचा वह यह कि स्कूल में पढ़ाए जा रहे मेरी रुचि के क्षेत्रों जैसे चित्रकला, बुनाई और कुम्हारी में मुझे शिक्षकों से प्रशिक्षण पाने का मौका था। क्या मैं तीन साल के कार्यक्रम के लिए प्रतिबद्ध न होते हुए सिर्फ एक साल के लिए इस मौके का उपयोग कर सकती हूँ? गौतम ने कहा था कि यह सम्भव है, पर तब इस तरह से "वे मेरे लिए ज़िम्मेदार नहीं होंगे।" ऐसा प्रतीत हुआ कि जब तक मैं पीएचई कार्यक्रम में शामिल नहीं होती, स्कूल मुझे सक्रिय मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए वचनबद्ध नहीं होगा।

"मुझे दाखिला लेना चाहिए या नहीं?"

यह शब्दों में बताना सम्भव ही नहीं है कि उस समय यह एक निर्णय लेने में और सिर्फ इस एक प्रश्न का उत्तर देने में मुझे कैसा महसूस हो रहा था। हालत यह थी कि "एक साल की छुट्टी" का निर्णय पहले ही धारा के विपरीत तैरने जैसे था। पर तीन सालों तक इस ढंग से चलना?



"मैं तीन साल करूँगी क्या? क्या मेरे पास करने को पर्याप्त होगा? क्या मैं वाकई कुछ काम की चीज़ सीखूँगी?"

अन्दर गहरे में डर और असुरक्षा थी: इस अनजान, अकेली सड़क पर यात्रा करने का डर और इस बात की असुरक्षा कि इस यात्रा के अन्त में क्या होगा। यदि मैं पीएचई में सम्मिलित हुई, तो इसका मतलब था उसके प्रति प्रतिबद्धता, और डर तथा असुरक्षा से सीधे भिड़ना। हर छात्र के लिए कैरियर बनाने हेतु ये कुछ सबसे महत्वपूर्ण और निर्णायक साल होते हैं। क्या मैं इन सालों का जोखिम उठाने के लिए तैयार थी?

*"क्या यह सही निर्णय है? क्या यह मेरे लिए अच्छा होगा?"*

यह एक भयावह दशा थी। मैंने अपने माता-पिता और उनके कुछ मित्रों के साथ लगभग पन्द्रह दिनों तक चर्चाएँ कीं। मैंने बहुत प्रार्थनाएँ कीं और एक-दो बार रो भी पड़ी क्योंकि मैं और बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। अन्ततः दिया गया समय भी शेष होने को था, जब मुझे श्री गौतम के पास जाकर उन्हें अपने निर्णय के बारे में बताना था। मैं उस रात सो नहीं सकी। जब मैं अपने पलंग पर लेटी सोच रही थी, तभी मुझे अचानक हलकापन लगा और अपने गालों पर ढलकते गर्म आँसुओं का एहसास हुआ। मैं मन ही मन मुस्कुराई। निर्णय हो गया था। मैं दाखिला लूँगी।

निद्राहीन रातें

जब छाछ को मथा जाता है, तो गाढ़ापन बिलकुल प्रारम्भ में ही शुरू हो सकता है, पर मक्खन अचानक सामने आता है। मैं समझती हूँ कि कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ। मेरे विचारों का मंथन इतने लम्बे समय से चल रहा था कि "मक्खन" अचानक सामने आ गया, और फिर मैंने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

मैंने चित्रकारी, नृत्य, बुनाई, इतिहास और भौतिकी से शुरुआत करने का निर्णय लिया और इसके साथ ही इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) से जीव विज्ञान (चूँकि मुझे जीव विज्ञान पसन्द था) में स्नातक डिग्री प्राप्त करना भी तय किया। मैं अपने पुराने स्कूल बेसेन्ट अरुन्डेल गई, ताकि अपने शिक्षकों को इस निर्णय के बारे में बता सकूँ। जो सबसे अच्छी प्रतिक्रिया मुझे मिली वह थी, "बढ़िया है.... यह कुछ हटके है। हमारी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।" मेरे कुछ शिक्षक पत्राचार से डिग्री प्राप्त करने के मेरे निर्णय से बहुत खुश नहीं थे क्योंकि मैंने स्कूल में हमेशा अच्छे अंक हासिल किए थे, पर उन्होंने मेरे इस निर्णय के लिए मुझ पर भरोसा जताया। परन्तु 12वीं कक्षा की मेरी शिक्षिका श्रीमती मालती अच्युत्तन ने मेरा बहुत समर्थन किया। जब भी मैं अपने शिक्षकों से मिलने स्कूल जाया करती थी, तो वे हमेशा पूछती थीं कि मेरा क्या चल रहा है। वे अक्सर मुझसे कहती थीं कि मैंने कुछ अलग चुनकर बहुत अच्छा किया और वे कैरियर विकल्प व चयन के बारे में अपने विद्यार्थियों से बात करते हुए उन्हें हमेशा मेरा उदाहरण (!) देतीं। उन्होंने यह भी कहा, "संयुक्ता मुझे ऐसा लग रहा है कि एक दिन मैं तुम्हें टीवी पर देखूँगी या अखबार में तुम्हारे बारे में पढ़ूँगी।"

# 2
# मेरी अपनी राह

चूँकि स्कूल गैर-आवासीय था, मेरे पास सिर्फ दो विकल्प थे – या तो लड़कियों के छात्रावास में रुकूँ या शहर में किसी परिवार के साथ पेईंग गेस्ट की तरह रहूँ। मेरे माता-पिता मेरे होस्टल में रुकने के प्रति उत्साहित नहीं थे। इस कारण पेईंग गेस्ट वाला विकल्प ही खुला था।

पर हुआ यह कि ये सारी चर्चाएँ तिरूवान्मियुर के एक छोटे-से घर में हुई थीं, जहाँ एक शिक्षक दम्पति – राजलक्ष्मी और सी.एन. कृष्णन – अपनी इकलौती बेटी आर्या के साथ रहते हैं। राजी आंटी ऐतिराज कॉलेज में अर्थशास्त्र पढ़ाती थीं जो चेन्नई का एक ख्यात महिला कॉलेज है। कृष्णन अंकल अन्ना विश्वविद्यालय के मद्रास प्रौद्योगिकी संस्थान (एमआईटी) में इलेक्ट्रॉनिक्स पढ़ाते थे। तीन लोगों के इस छोटे-से परिवार में जून, 1996 में एक नया सदस्य जुड़ा। आमतौर पर किसी परिवार में वृद्धि एक नए जन्मे बच्चे के रूप में या फिर दादा-दादी, नाना-नानी के रूप में होती है। पर यह उन बिरले परिवारों में से एक था जिन्होंने एक 18 वर्षीय लड़की को घर में जगह दी।

राजी आंटी और कृष्णन अंकल ने मुझसे कहा कि मैं जब तक पीएचई के तहत पढ़ूँ, तब तक वहाँ रह सकती थी। राजी आंटी के फ्लैट के ठीक ऊपर वाले फ्लैट में उनकी एक घनिष्ट मित्र देवदत्ता रहती थीं। वे कोडैकनाल के मदर टेरेसा विश्वविद्यालय में तमिल की प्राध्यापिका थीं। दोनों मित्रों का बहुत घरोपा था। ऐसी व्यवस्था हुई कि मैं देवा आंटी के घर में रहूँगी और सोऊँगी तथा राजी आंटी के घर में खाना खाऊँगी। राजी आंटी ने "किराएदार" वाली व्यवस्था को दृढ़ता से खारिज कर दिया। अतः मेरे माता-पिता उनके परिवार के लिए कभी-कभार गाँव से कुछ मौसमी कृषि उत्पाद ले आया करते थे। राजी आंटी के परिवार की ओर से मिली

इस उदार सुविधा की मदद से मैंने पीएचई में अपने सफर की शुरुआत की।

## "द स्कूल" में शुरुआत

"द स्कूल" एक मुग्ध करने वाला संस्थान है। वहाँ की हर बात अलग है – प्रार्थना करने से बास्केटबॉल खेलने तक। जिस तरह शिक्षक पढ़ाते हैं, और यहाँ तक कि जिस तरह से दोपहर का खाना आयोजित किया जाता है, यदि वह "द स्कूल" है तो उसे अलग तो होना ही होगा! यह "द स्कूल" की मेरे मन पर पड़ी पहली छाप थी और अन्त तक यह मेरे साथ रही।

"द स्कूल" में किंडरगार्टन से लेकर बारहवीं कक्षा तक के विद्यार्थी थे। नियमित शैक्षिक पढ़ाई के अतिरिक्त विद्यालयेत्तर गतिविधियों पर बहुत ज़ोर था। हाई स्कूल (आठवीं से बारहवीं कक्षा) के बच्चे हर रोज़ आखिरी एक घण्टे में कई अलग-अलग गतिविधियों जैसे चित्रकारी, बढ़ईगिरी, कुम्हारी, बुनाई, गायन, धागे की कला आदि में से किसी एक में भाग लेते थे। हर नए सत्र में छात्र कोई दूसरी गतिविधि चुन सकते थे।

## आप क्या करती हैं?

पीएचई कार्यक्रम के एक विद्यार्थी के रूप में मैं स्कूल में चल रही कक्षाओं में से किसी में भी शामिल हो सकती थी और इसके लिए मुझे गौतम अन्ना (मेरे परामर्शदाता) के मार्गदर्शन में और अन्य सम्बन्धित शिक्षकों के साथ मिलकर एक कार्यक्रम बनाना था। इसलिए जो शैक्षिक विषय मैंने चुने – भौतिकी और इतिहास – उनके लिए मैं नियमित रूप से ग्यारहवीं और बारहवीं के विद्यार्थियों के साथ कक्षाओं में शामिल होती थी, पर बुनाई और चित्रकारी के उस्तादों के साथ मैंने अलग कार्यक्रम बना लिया था। मैं जहाँ चाहे अपना समय व्यतीत करने के लिए तथा अपनी पसन्द के विषय पढ़ने के लिए स्वतंत्र थी, और मुझे रोज़ स्कूल जाने की ज़रूरत नहीं थी। परन्तु, जैसा कि बाद में हुआ, मैं हफ्ते में लगभग पाँच दिन स्कूल जाती थी, मुख्य रूप से इसलिए कि मेरे अध्ययन के अधिकांश विषय वहाँ पढ़ाए जाते थे।

स्कूल के बाकी सभी लोगों की तरह मैं भी छुट्टियों के दौरान आमतौर पर सैर-सपाटे पर निकल जाती थी लेकिन मैं हमेशा योजना बना लेती



थी कि मुझे छुट्टियाँ कैसे व्यतीत करना हैं। कभी-कभी मैंने लघु प्रशिक्षण लिए या भ्रमण किया। अक्सर ही मुझे इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) की अपनी परीक्षाओं की तैयारी करना होती थी जिसके बीएससी कार्यक्रम में मैंने पहले ही नामांकन करा लिया था। मेरे सलाहकार और मार्गदर्शक, गौतम अन्ना, समय-समय पर मेरे काम का जायज़ा लेते थे और उन्होंने ज़ोर दिया कि मैं विषयों में अपनी प्रगति, घटनाओं के अवलोकन, कृष्णमूर्ति अध्ययनों पर – और मुझे महत्वपूर्ण लगने वाली तथा उन्हें बताने लायक हर चीज़ पर एक साप्ताहिक रिपोर्ट दूँ।

जब मैं पीएचई कार्यक्रम से जुड़ी तो हरिता पहले से ही वहाँ थी – वह उसकी पहली विद्यार्थी थी। वह पत्राचार से बीकॉम कर रही थी और तब तक अपनी रुचि के क्षेत्रों, जैसे बुनाई और बागबानी में कूद चुकी थी।

वह पूरे पाठ्यक्रम के प्रति बहुत सकारात्मक थी और स्कूल में जो कुछ भी होता था उसके प्रति बहुत उत्साहित प्रतीत होती थी। किसी को बस इतना कहना होता था, "अरे वहाँ कुछ हो रहा है... तुम क्यों नहीं आ जाती हरिता?" और उसका त्वरित जवाब होता, "बिलकुल, हम निश्चित ही वहाँ जाएँगे", और वह अपने साथ मुझे भी खींच ले जाती।

मुझे स्कूल की आदी होने में कुछ समय लग रहा था। पर हरिता और मुझमें शुरुआत से ही बहुत अच्छी पटने लगी। हमारी रुचियाँ समान थीं और हमारे बीच कई मुद्दों पर लम्बी और गहन वार्ताएँ होती थीं। जब भी सम्भव होता हम मिलकर काम करते थे और इसकी पूरी कोशिश करते थे कि हमारे कार्यक्रम एक-से रहें। एक दिन, हम एक नई लड़की से मिले जो पीएचई में शामिल होने की योजना बना रही थी। मुझे याद है कि उसे दर्शनशास्त्र और नलसाज़ी में बहुत रुचि थी! वह हमें दो दिन दिखी पर उसके बाद उसने आना छोड़ दिया। हरिता की मदद से मैं हर बात की आदी हो ही रही थी कि एक आपदा आ पड़ी! हरिता को व्यक्तिगत कारणों से कार्यक्रम छोड़ना पड़ा। मैं बस अपने तक सीमित रह गई – एक बार फिर पूरी तरह अकेली।

शुरुआत में नियमित छात्र इससे बेपरवाह थे कि मैं स्कूल में क्या कर रही हूँ। माध्यमिक स्कूल के कुछ जिज्ञासु विद्यार्थी अनुमान लगाते थे कि शायद मैं कोई अक्का (बड़ी बहन) हूँ – यहाँ विद्यार्थी शिक्षकों को इसी

तरह बुलाते थे, अन्ना और अक्का – पर वे बच्चे तब भ्रमित प्रतीत होते थे जब वे मुझे कक्षाओं में बैठा देखते जहाँ मैं बुनाई सीखती या कुछ और पढ़ती थी। "आप अक्का नहीं हो और आप बारहवीं में भी नहीं हो... तो आप हमारे स्कूल में क्या करती हो?" वे पूछते। पर बड़े विद्यार्थियों को पीएचई कार्यक्रम के बारे में पता चल गया था और उनमें से कुछ कभी-कभार पूछ लेते कि चीज़ें कैसी चल रही हैं।

"क्या आपको यह अच्छा लगता है?" थोड़े अचरज के भाव से वे पूछते। जब मैं जवाब देती "हाँ", तब वे मुझे ऐसे देखते थे जैसे मैं कोई अजीबोगरीब लड़की हूँ जो इस तरह की चीज़ कर रही हूँ। विद्यार्थियों और मेरे बीच एक तरह का अदृश्य विभाजन था। कभी भी अपनी गतिविधियों या वार्तालापों में वे मुझे सचमुच में शामिल करते हुए प्रतीत नहीं होते थे। जब कक्षा में मैं उनके साथ होती तो लगभग सभी विद्यार्थी पूरी तरह मेरी अनदेखी कर देते। तीन-चार महीनों तक मैंने इसे बदलने की व्यर्थ कोशिश की और हमेशा उनसे बातचीत शुरू करने की पहल की। वे विनम्रता से मेरे प्रश्नों का जवाब देते पर उसके बाद बातचीत अपने आप अचानक खत्म हो जाती। हम कभी इससे आगे नहीं बढ़ पाए। तथापि, कुछ विद्यार्थी ऐसे थे जिनके साथ सामान्य मुलाकात कोरे अभिवादन से थोड़ी आगे जाती थी।

दिन के खाने के समय में मुझे विद्यार्थियों और शिक्षकों के साथ बातचीत करने का सचमुच कुछ वक्त मिल जाता था। शिक्षकों सहित हम सब लोग सामूहिक भोजन करते थे जो स्कूल द्वारा प्रदान किया जाता था। विद्यार्थी ऐसे समूहों में बैठते जिनमें अलग-अलग आयु वर्ग के बच्चे होते थे और उनके साथ दो या तीन शिक्षक भी बैठ जाते थे। मैं अपनी पसन्द की किसी भी मेज़ पर बैठने के लिए स्वतंत्र थी। धीरे-धीरे मैं अन्य मेज़ों की अपेक्षा कुछ खास मेज़ों पर बैठना पसन्द करने लगी। रोचक बात यह है कि ऐसा किसी खास मेज़ पर बैठने वाले किन्हीं विद्यार्थियों के कारण नहीं था बल्कि शिक्षकों के कारण था। कई बार, मैं बस किसी शिक्षक के साथ बातचीत जारी रखना चाहती थी जिसके साथ मैं खाने के पहले से ही बात कर रही होती थी। शिल्प-शिक्षक जैसे कि बुनाई, बढ़ईगिरी और कुम्हारी के उस्ताद (सभी तमिल बोलने वाले) आमतौर पर एक ही मेज़ पर एक साथ बैठते थे और मैं अक्सर उनके साथ बैठ जाती थी, लगभग ऐसी



सहजता से जैसे वह मेरी ही जगह हो। मैं समझती हूँ कि मैं उनके साथ सबसे अधिक सहज हो पाती थी और सुरक्षित महसूस करती थी।

मुझे वहाँ दिया जाने वाला भोजन बहुत पसन्द था। यह कुछ अन्य विद्यार्थियों के एकदम विपरीत था जो खाने को देखकर मुँह बनाते थे और पूर्ण अरुचि ज़ाहिर करते थे। मेरे हिसाब से वे लोग हमेशा इतना कम खाते प्रतीत होते थे कि कई बार मुझे दूसरी बार कुछ लेने में झिझक होती थी!

"खुली सभा," हर महीने एक घण्टे के लिए होने वाला सत्र था। यह विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिए था ताकि वे "खुले ढंग से" एक साझे मंच पर विभिन्न मुद्दों, विवादों पर चर्चा कर सकें। फिर चाहे वे स्कूल से सम्बन्धित हों, या नितान्त व्यक्तिगत। सभी विद्यार्थी, शिक्षक और प्राचार्य इस एक घण्टे की सभा के लिए इकट्ठा होते थे। मुझे इन चर्चाओं में बड़ा मज़ा आता था। कोई छात्र पूछता कि स्कूल में अमुक नियम क्यों है, या कोई छात्रा सुनाती कि जब दूसरे बच्चे उसे उसकी भाषा की समस्या को लेकर चिढ़ाते थे तो उसे मन में कैसा लगता था, या फिर सड़क पर गरीब लोगों को देखकर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती थी। इन सत्रों की अध्यक्षता किसी विद्यार्थी द्वारा की जाती थी जो बड़ी कुशलता से शिक्षकों और विद्यार्थियों, दोनों को "सम्हालता" था।

एक अन्य गतिविधि जो मैंने पहले साल में स्कूल के कुछ विद्यार्थियों के साथ मिलकर की, वह थी समुद्रतट की सफाई। हर रविवार की शाम स्कूल के कुछ विद्यार्थी और शिक्षक बेसेन्ट नगर तट पर इकट्ठा होते थे। हममें से प्रत्येक, एक थैला हाथ में लिए, तट पर लोगों के बीच चलते हुए प्लास्टिक, कागज़, स्टाइरोफोम और धातु के रद्दी टुकड़े उठाता था। "कौन हो तुम? तुम यह सब क्यों कर रहे हो? क्या तुम किसी संगठन से हो?" कई लोग पूछते थे। हम उन्हें समझाते थे कि हम लोग स्कूली छात्र हैं और तट को साफ सुथरा रखने के सीधे-सादे उद्देश्य से यह कर रहे हैं। "अच्छा, तो यह बात है। बहुत बढ़िया। इसे भी लो," वे लोग अपना कचरा झट से हमारे थैले में डाल देते थे, बजाय खुद चलकर कचरे के डिब्बे तक जाने की ज़हमत उठाने के! सत्र के अन्त में लोगों की इन प्रतिक्रियाओं को हम एक-दूसरे के साथ बाँटते थे।

जैसे-जैसे दिन महीनों में बदलते गए, मैंने खुद को ज़्यादा से ज़्यादा स्कूल

का हिस्सा महसूस करना शुरू कर दिया। मैंने ग्यारहवीं के छात्रों के साथ भौतिकी और इतिहास की कुछ कक्षाओं में भी जाना शुरू कर दिया। मैंने अक्सर यह महसूस किया था कि ये विषय कहीं ज़्यादा रोचक लगेंगे यदि मैं इन्हें फुर्सत के समय में, उचित मार्गदर्शन के साथ, परीक्षाओं के दबाव से मुक्त होकर पढ़ सकूँ। हर चीज़ स्पष्ट तौर पर समझने के लिए समय ले सकूँ। पर मैं इन कक्षाओं में नियमित रूप से जाना जारी नहीं रख सकी क्योंकि उनके समय का मेरे दूसरे पाठ्यक्रमों के साथ टकराव हो रहा था। मैंने पाया कि मैं कक्षा के बाकी छात्रों के साथ नहीं चल पा रही हूँ और पिछड़ रही हूँ। अपनी गति से सीखने के लिए मैंने कक्षाओं में जाना पूरी तरह से छोड़ दिया पर पुस्तकालय में जाकर इतिहास और भौतिकी की किताबें पढ़ना शुरू कर दीं।

हालाँकि प्रारम्भ में मैंने बुनाई, चित्रकारी, नृत्य, भौतिकी और इतिहास के साथ शुरुआत की थी, पर पहले साल का अन्त आने तक मैंने सबकी बजाय सिर्फ कुछ विषयों पर ध्यान केन्द्रित करने का निर्णय ले लिया था और अपने उपलब्ध समय की प्राथमिकताएँ तय कर ली थीं। पहले वर्ष के बाद, मेरा अधिकांश समय बुनाई और सम्बन्धित क्षेत्रों में तथा इग्नू के जीवविज्ञान पाठ्यक्रम के काम में गुज़रा। बाद के दो वर्षों में चित्रकारी, गायन और नृत्य, प्राथमिकताओं में पीछे चले गए। जे. कृष्णमूर्ति अध्ययन, जो कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण पक्ष था, पूरे पीएचई कार्यक्रम के दौरान साथ-साथ चलता रहा। पर बुनियादी विषयों की पढ़ाई चलने के साथ-साथ अनेक लघु प्रशिक्षण कार्यक्रम, अनुभव और भ्रमण भी हुए – जैसे ऑरीगैमी सीखना, नर्मदा घाटी की यात्रा, स्कूल के विद्यार्थियों के साथ एक रंगमंच कम्पनी के साथ काम करना, आन्ध्र के एक बुनकर परिवार के साथ दो महीने बिताना इत्यादि। ये अनुभव पीएचई कार्यक्रम के साढ़े तीन सालों के दौरान अलग-अलग समय पर हुए।

## साथियों का दबाव और जनता

आपके मन में प्रश्न उठ सकता है कि मैंने अपने हमउम्र "साथियों का दबाव" कैसे झेला। हालाँकि मैं अपने पुराने स्कूल के अन्य साथियों की तरह कॉलेज नहीं गई, पर मैंने कभी यह महसूस नहीं किया कि मैं कुछ ऐसी चीज़ चूक रही हूँ जो वाकई मूल्यवान हो। जब हम कभी-कभार



मिलते और अपने अनुभव बाँटते तो उनमें से कुछ कहते, "वाह, रोचक है! यार... तुम जो चाहे करने के लिए स्वतंत्र हो।" वे बदले में मुझे अपनी कॉलेज की रोमांचक ज़िन्दगी के बारे में बतातीं – जैसे नए बॉयफ्रेण्ड, व्याख्याता, रैगिंग, अन्तर-महाविद्यालयी सभाओं आदि के बारे में। मुझे उनकी बातें सुनने में हमेशा मज़ा आता था, पर कभी भी पीएचई को छोड़कर मुख्यधारा में शामिल होने की कोई लालसा महसूस नहीं हुई। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह स्वीकार करने से मेरे अहंकार को ठेस लगती? मुझे ऐसा नहीं लगता। शायद इस खयाल ने कि वह सब ज़्यादा ही "बँधा हुआ" था, उसे मेरे लिए नीरस बना दिया था। वैसे भी मैं पूरी तरह उसी में मगन थी जो मैं उस समय कर रही थी।

पीएचई के बारे में हमारे शुरुआती वार्तालापों में, गौतम अन्ना ने मुझसे एक बार कहा था, "हाई स्कूल के बाद के तीन साल एक विद्यार्थी के जीवन के सबसे महत्वपूर्ण और ऊर्जावान वर्ष होते हैं जब दिमाग बाहरी दुनिया की बातें स्पंज की भाँति सोखता है। तुम वे तीन साल रोज़ नौ से पाँच बजे तक ऐसे व्याख्यान सुनने में क्यों बिताओ जिनमें से ज़्यादातर तुम्हें उबाऊ लगते हैं। कॉलेज आने-जाने में और कैन्टीन में बैठकर गप्पें मारने में घण्टों ज़ाया क्यों करना?" इस विचार ने मेरे अन्दर किसी तार को छेड़ा और यह बात मेरे दिमाग में ज़रूर कहीं रह गई होगी, जिससे मुझे यह भरोसा बना रहा कि मैं जो कर रही थी वह सार्थक था।

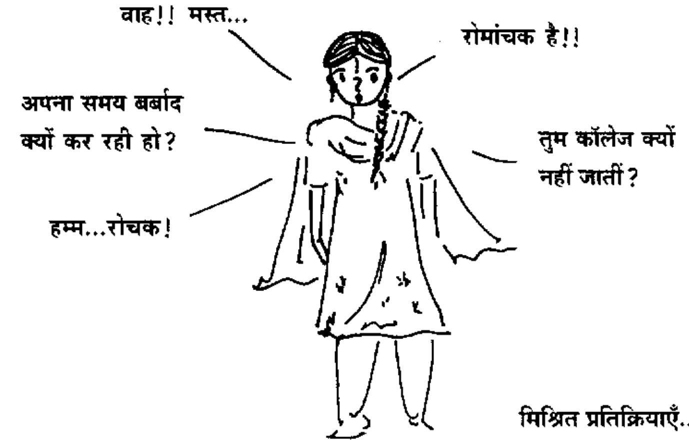


मिश्रित प्रतिक्रियाएँ...

लेकिन एक प्रश्न ज़रूर उठता था और मैं वाकई चाहती थी कि मुझे उसका उत्तर न देना पड़े। अक्सर किसी बातचीत के दौरान कोई शिष्टाचारवश पूछता कि मैं क्या कर रही हूँ। विस्तार में जाने से बचने के लिए मैं बस यह कह देती कि मैं जीव विज्ञान में बीएससी कर रही हूँ। इसके बाद हमेशा वह डरावना प्रश्न सामने आता था "कहाँ से?" और मुझसे अपेक्षा की जाती थी कि मैं "स्टैला मेरिस" या "एतिराज" कहूँगी। मुझे यह बताने में हमेशा हीनता का भान होता था कि मैं अपनी बीएससी पत्राचार द्वारा कर रही थी। जैसे ही वे यह सुनते थे, उनके चेहरे के भाव बदल जाते। मुझे महसूस होता था कि मैं उनके विचार तकरीबन पढ़ सकती थी। "यदि यह अपनी डिग्री पत्राचार द्वारा कर रही है, तो इसके साथ कुछ गड़बड़ ज़रूर होगी, है ना? शायद यह पढ़ाई में कमज़ोर है और किसी अच्छे कॉलेज में दाखिला नहीं ले पाई।" इससे मेरे अहं को ठेस लगती थी और मैं अपनी पूरी कहानी उन्हें सुनाने की मजबूरी महसूस करने लगती, "असल में मैं उच्चतर शिक्षा कार्यक्रम नामक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पढ़ रही हूँ, इसमें....।" जब मेरी बात खत्म होती तो कह नहीं सकती कि सुनने वाले को कैसा लगता होगा, पर मुझे अन्तस में एक शान्त उपलब्धि का एहसास होता था।

जहाँ तक मेरे रिश्तेदारों की बात है, उन्होंने पीएचई के बारे में कभी कुछ भी नहीं सुना था। पर उन्होंने मुझ पर भरोसा किया और मुझे मेरे हिसाब से चलने दिया। हालाँकि वे अपने बच्चों के लिए पीएचई के बारे में सोचते तक नहीं, पर उन्होंने मुझे अपना पूरा समर्थन दिया और वे अपने मेहमानों से मेरा परिचय गर्व के साथ कराते थे। मेरे गाँव के लोग इस बात से सन्तुष्ट थे कि मैं चेन्नई में डिग्री की पढ़ाई कर रही थी। जहाँ तक उनका सवाल था, उनके लिए यह पर्याप्त था कि मैं बीएससी कर रही थी। पर हाँ, हमेशा मेरे पिता ही यह कह देते थे "यह मेरी सबसे बड़ी बेटी है। यह पत्राचार के द्वारा बीएससी कर रही है...." और मेरा चेहरा शर्म से लाल हो जाता।

मुझे लगता है कि शुरुआत में मैं लोगों से आश्वासन चाहा करती थी कि मैं अपना समय व्यर्थ नहीं गँवा रही थी, और कुछ उपयोगी और रोमांचक चीज़ कर रही थी। पर जैसे-जैसे महीने बीतते गए मैं अपने कार्य के प्रति भीतर से आश्वस्त महसूस करने लगी, खासतौर पर इसलिए क्योंकि



मुझे उसमें पूरी तरह से मज़ा आ रहा था। और अन्ततः यही मेरे लिए सबसे मुख्य बात थी।

## ब्रश से दो-दो हाथ

"नमस्ते, तरित अन्ना।"

"नमस्ते, नमस्ते। तो तुम आ गईं। अच्छा है... बहुत अच्छा।" अपने लिखने के पैड पर से नज़रें उठाकर तरित अन्ना कहते। वे हमेशा हर किसी का स्वागत इसी तरह करते थे।

द स्कूल में, तरित अन्ना और "कला" शब्द पर्यायवाची हैं। जब भी आप कला देखें, उसके पीछे एक "तरित" होता है। तरित भट्टाचार्य शान्तिनिकेतन में पढ़े हैं। कला का बच्चों के लिए क्या मतलब हो सकता है, इसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने जैसे एक नई भाषा ही गढ़ ली है। उनके बारे में एक मशहूर किस्सा सुनाया जाता है।

तरित अन्ना ने एक बार बच्चों को मिट्टी से कुछ बनाने के लिए कहा। बच्चों ने एकदम से मिट्टी को अलग-अलग आकारों में सानना शुरू कर दिया।

"हैलो, प्रगति। तुम्हारा पंछी बहुत अच्छा दिख रहा है।"

"अन्ना," छोटी लड़की ने नाराज़ होते हुए कहा, "यह मिसाइल है।"

"अच्छा, ऐसा है? बहुत अच्छा! बहुत अच्छा।"

लेकिन वहाँ एक लड़का था, जो इस सारी गतिविधि के प्रति पूरी तरह से उदासीन लगता था। उसे जिस बात में वाकई मज़ा आ रहा था, वह था चीज़ें इधर-उधर फेंकना – क्रेयॉन, रंगीन पेंसिलें, हर चीज़। फिर भी, तरित अन्ना ने कोशिशें नहीं छोड़ीं। उन्होंने उस बच्चे को थोड़ी मिट्टी दी और सफेद कागज़ से ढका एक बोर्ड ठीक उसके सामने रख दिया। "बोर्ड पर मिट्टी फेंको" तरित अन्ना ने उस बच्चे से कहा और उसे अकेला छोड़ दिया। बच्चे ने पहले तो कागज़ की तरफ सन्देह से देखा लेकिन फिर उसने वैसा ही करने का निश्चय किया जैसा करने के लिए उससे कहा गया था। आखिरकार उसे कला की कक्षा में यही करना सबसे अच्छा भी

लगता था – चीज़ें फेंकना। अतः उसने कागज़ पर मिट्टी फेंकना शुरू किया। ज़ाहिर है, मिट्टी के धब्बे किसी चीज़ की भाँति नहीं दिख रहे थे.... पर फिर तरित अन्ना ब्रश के साथ आए। ब्रश के दो हाथ यहाँ, एक स्पर्श ऊपर, तीन या चार हल्के से टिप्पे नीचे... और बन गया! एक घोड़ा! वह लड़का तो भौंचक्क रह गया।

तरित अन्ना की शैली अद्वितीय है, और उसमें शान्तिनिकेतन की गहरी छाप है। वे लगातार नए माध्यम और संयोजन खोजते रहते हैं तथा बच्चों के लिए खुद को अभिव्यक्त करने के बिलकुल नए तरीके ढूँढ लाते हैं। हाल ही में उन्होंने अपने अनुभवों पर एक किताब प्रकाशित की है जिसका शीर्षक है, *चाइल्ड आर्ट विथ ऐवरीडे मैटेरियल्स* (रोज़मर्रा की वस्तुओं से बच्चों की कला)।

लगभग इसी समय एक दूसरे कलाकार के साथ हुआ अनुभव याद आता है। औपचारिक रूप से केएफआई से जुड़ने से पहले, मैंने एक खास कलाकार से सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश की ताकि कुछ कला सीख सकूँ। चित्रकार प्रीति कन्नन, जिनसे मैं मुम्बई में मिली थी, ने मुझे उनका नाम सुझाया था। वे बोलीं थीं कि वे उनसे मेरी सिफारिश कर देंगी। मैंने उनका नम्बर मिलाकर उनसे बात करने की इच्छा ज़ाहिर की। जैसे ही वे फोन पर आए मैंने कहा, "हैलो। मैं संयुक्ता हूँ। मैं चित्रकार प्रीति कन्नन से मुम्बई में मिली थी। उन्होंने मुझे आपके बारे में बताया था और कहा था कि आप मुझे कला सिखाने के लिए तैयार हो सकते हैं। तो सर, क्या आप मुझे सिखा सकते हैं?"

दूसरे सिरे पर खामोशी रही।

"सर?"

"नहीं! मैं नहीं सिखा सकता... तुम्हें पता होना चाहिए कि लोगों से कैसे बात की जाती है," और उन्होंने ज़ोर से फोन रख दिया!

मेरी बोलती बन्द हो गई और मैं शर्म से लाल हो गई। तब मुझे एहसास हुआ कि अपना परिचय देने का कितना महत्व है, खासतौर पर जब फोन की दूसरी तरफ कोई अनजान व्यक्ति हो। निश्चित ही उन्हें मैं दम्भी और



अशिष्ट सुनाई दी होऊँगी, यद्यपि यह जानबूझकर नहीं हुआ था। इसकी बजाय, अपना परिचय देने के बाद, मुझे उन्हें बताना चाहिए था कि मैंने उनके बारे में बहुत सुना है तथा मैं उनसे मिलना चाहूँगी और उनके चित्र भी देखना चाहूँगी। और फिर मुझे यह पूछना चाहिए था कि क्या वे मुझे सिखाएँगे। यह पाठ मैंने बहुत अच्छी तरह सीख लिया।

वापस तरित अन्ना की बात करूँ तो, मैंने उनके मार्गदर्शन में धीरे-धीरे कला सीखना शुरू किया। चित्रकारी करने में तो मेरी बहुत रुचि थी, पर रेखाकृति बनाने में नहीं थी। पानी के रंग मेरे पसन्दीदा माध्यम थे। हालाँकि मैं बहुत खास तो नहीं थी, पर मुझे लगा कि मैं इतनी अच्छी तो थी ही कि कला और चित्रकारी के बारे में कैरियर विकल्प की दृष्टि से विचार कर सकूँ।

मैंने अपनी कला पर लगभग हर दिन काम किया। तरित अन्ना का ज़ोर इस पर नहीं था कि हम वस्तुओं की हूबहू नकल करें। इसकी बजाय वे विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करते थे कि उन्हें जो दिखाई दे वे उसे अपने खास अन्दाज़ से दर्शाएँ। दूसरे शब्दों में, वे चाहते थे कि हम केवल देखें ही नहीं बल्कि अनुभव भी करें। मैंने उस समय स्थल चित्रण और स्थिर चित्रण (स्टिल-लाइफ) का काफी काम किया।

*"चित्र को शुरू करने का सबसे अच्छा तरीका है कि कागज़ को खराब कर दो," तरित कहते। "उसे कुचल दो, गीला कर दो, दो या तीन रंगों के टिपके लगा दो... कुछ भी करो, पर कड़क सफेद कागज़ के साथ शुरुआत मत करो।"*

और वे यही करते थे। धीरे-धीरे कागज़ पर आकार और रोचक प्रभाव उभरना शुरू हो जाते। इन "अनायास बने प्रभावों और गलतियों" का इस्तेमाल करते हुए वे सुन्दर चित्र बना देते थे। मुझे यह अभ्यास बहुत पसन्द था क्योंकि आप को कभी यह पता नहीं होता था कि आपका चित्र अन्त में कैसा होगा जब तक कि "खराब किया गया" कागज़ आपको नए विचार न दे दे। अपनी ओर से न्यूनतम प्रयास करते हुए कोई माध्यम स्वाभाविक तौर पर जो भी मुहैया कराए उसका भरपूर इस्तेमाल करना, यह एक अद्‌भुत अवधारणा थी और मैंने अपने अधिकांश चित्र इसी तरह बनाए।

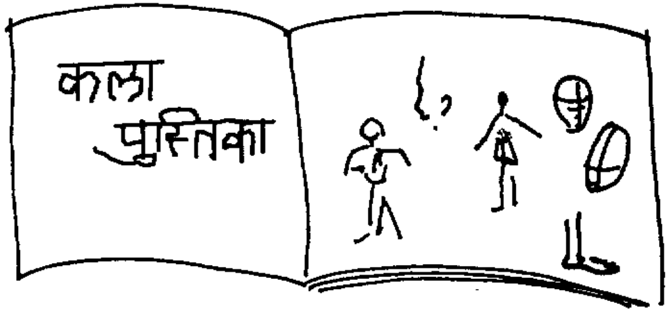


**मैं इन्सानों के रेखाचित्र बनाने में बहुत खराब थी!**

मैं लोगों की रेखाकृतियाँ बनाने में अच्छी नहीं थी। पर मैंने कभी इसे सुधारने की बहुत कोशिश नहीं की। इस अवलोकन ने मुझे मेरे व्यक्तित्व के एक पक्ष के बारे में अन्तर्दृष्टि दी – मैंने कभी वह चीज़ करने की सच में पर्याप्त कोशिश नहीं की जिसमें मैं स्वाभाविक तौर पर अच्छी नहीं थी। मेरा रुझान उन क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करने पर था, जिनमें मेरी कुछ बुनियादी प्रतिभा थी।

कभी-कभी चित्र में किसी बात की कमी लगती, फिर मैं माथापच्ची करती और कभी कुछ आज़माती तो कभी कुछ। पूरे समय लगातार मन में डरते हुए कि कहीं मेरी तस्वीर और बुरी न दिखने लगे।

"तरित अन्ना, कृपया कुछ करिए।" मैं याचना करती।

और तरित अन्ना मुझसे ब्रश ले लेते, उसको रंगों की तश्तरी में एक या दो बार घुमाते और जादू कर देते। और वह जादू ही होता क्योंकि बिना समय लगाए और बहुत मामूली प्रयास से वे तस्वीर में कुछ ऐसा जोड़ देते कि वह जीवन्त हो जाती।

एक बार एक खास घटना हुई जब ऐसा लगा कि किसी प्रकार का दैवीय हस्तक्षेप हुआ है! अब इसकी कल्पना कीजिए: एक कुमुद का तालाब जिसके चारों ओर सीढ़ियाँ हैं, किनारों पर छायादार वृक्षों का झुरमुट है, और एक तरफ एक छोटा, उजड़ा हुआ, परित्यक्त मन्दिर। तालाब गुलाबी और सफेद कुमुदिनियों से भरा हुआ है। तालाब के बीच में स्थित कुछ फूलों पर सुबह की धूप पड़ रही है इसलिए वे अन्य फूलों से ज़्यादा उजले दिख रहे हैं।



मैंने तस्वीर को लगभग वैसा बना लिया था जैसा मैं चाहती थी, खासतौर पर प्रकाश का प्रभाव। मैं तस्वीर से बहुत खुश थी। मैं चाय के दौरान उसे गौतम अन्ना को दिखाना चाहती थी। वे एक पेड़ के नीचे बैठे थे और किसी छात्र से बात कर रहे थे। जैसे ही मैंने उनके पास जाकर उन्हें तस्वीर दिखाई, सुबह की मन्द हवा से हिलती हुई पेड़ की पत्तियों के बीच में से झाँकती हुई सूरज की रोशनी सिर्फ कुछ पलों के लिए ठीक उसी स्थान पर केन्द्रित हुई जहाँ उसे तस्वीर में कुमुदिनी के फूल पर पड़ना था! यह बिलकुल जादुई था और कुछ पलों के लिए आप यह कल्पना कर सकते थे कि जैसे आप सचमुच वहाँ थे, तालाब के किनारे पर, कुमुदिनी के उन सुन्दर फूलों की सराहना करते हुए...।

"दैवीय हस्तक्षेप" अभी खत्म नहीं हुआ था। दशहरे की छुट्टियों के दौरान हम सभी हमारे गाँव में स्थित एक शिव मन्दिर तक पैदल चलकर गए जो एक पहाड़ी की चोटी पर बना हुआ है। मन्दिर के रास्ते में आपको क्या लगता है कि मैंने क्या देखा? पानी में उगने वाली गुलाबी कुमुदिनियों वाला ठीक वैसा ही तालाब जिसके चारों ओर छायादार वृक्ष थे। क्या यह महज़ इत्तफाक था?

उतना ही रोमांचक था तरित अन्ना और अन्य छात्रों के साथ स्कूली परियोजनाओं पर काम करना जैसे नाटकोत्सव के लिए पोस्टर तैयार करना, खुली सभा के लिए सभाकक्ष को तैयार करना, और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए मंच बनाना। सभी की प्रस्तुति के लिए नए-नए तरीके तरित अन्ना ही विकसित करते थे और फिर विद्यार्थी खुद उन्हें कार्यान्वित करते थे।

यद्यपि उनके साथ इस "मुक्त" ढंग से कला सीखने में मुझे मज़ा तो आया, फिर भी एक साल बीतने पर मैंने महसूस किया कि इसकी व्यवस्थित ढंग से योजना बना लेना उचित होगा कि मुझे क्या सीखना चाहिए। तरित अन्ना और मैंने एक प्रकार का पाठ्यक्रम बनाया भी, पर इसी बीच मेरा ध्यान बुनाई पर केन्द्रित हो गया था। कला प्राथमिकता में पीछे हो गई। इसके बाद, यद्यपि मैंने विधिवत् रूप से कला अध्ययन नहीं किया, पर नियमित रूप से चित्रकारी करना जारी रखा। पर कला की दुनिया मेरे लिए बदल गई थी – अब यह सिर्फ रंग और कागज़ के बारे में नहीं रह गई थी। अन्ना के साथ काम करके कला के कई तरीकों से और कला

रचना के कई माध्यमों से मेरा परिचय हुआ। कला और रंग की आवाज़ों ने आखिरकार मुझसे बतियाना शुरू कर दिया था।

## सारेगामा और ता थै थै ता

जब मैं दस साल की उम्र में कलाक्षेत्र में शामिल हुई, तब अंशकालिक नृत्य पाठ्यक्रम में दाखिला लेने की पूर्वशर्त के तौर पर प्रसिद्ध नर्तक और शिक्षक श्री जनार्दनन ने मेरा साक्षात्कार लिया था। मैंने पहले से ही थोड़ा भरतनाट्यम सीखा हुआ था तो जब उन्होंने मुझसे एक अडवु करने के लिए कहा तो मैंने एकदम से शुरू कर दिया "थैया थै थैया थै..."

"बढ़िया। क्या तुम गाती भी हो?" उन्होंने पूछा। मैंने कल्याणी राग में अपना पसन्दीदा गीत गाया।

"यह बहुत अच्छा गाती है।"

"तो तुम नृत्य सीखना चाहती हो या संगीत?" उन्होंने मुझसे पूछा।

"दोनों," रोमांचित होते हुए मैंने जवाब दिया।

वे मेरी माँ की तरफ मुड़े और बोले "नहीं, यह दोनों चीज़ें नहीं कर सकती। यहाँ कलाक्षेत्र में आप एक समय में एक ही विषय सीख सकते हैं।" उन्होंने एक पल के लिए अपनी आँखें बन्द कीं और मुस्कुराए।

"इसे अभी नृत्य करने दो। यह ऐसी चीज़ है कि यदि छोटी उम्र में सीखना शुरू करेगी तो बेहतर सीख सकेगी। संगीत तो यह कभी भी सीख सकती है, पर बड़ी उम्र में संगीत से नृत्य पर आना मुश्किल होता है। और कलाक्षेत्र में हर तरफ पर्याप्त संगीत है... यन्ना (क्या)?" उन्होंने मेरी तरफ देखा, "डांस कत्तुक्को (नृत्य सीखो)।"

तो मैंने कलाक्षेत्र में अपने पंचवर्षीय अंशकालिक डिप्लोमा पाठ्यक्रम के लिए नृत्य को चुना। पाँच साल तक हफ्ते में पाँच दिन नियमित स्कूल के बाद हमारी एक घण्टे की कक्षाएँ होती रहीं।

आज मैं देख सकती हूँ कि जनार्दनन सर सही थे। हालाँकि मैंने कलाक्षेत्र के संगीत पाठ्यक्रम में दाखिला नहीं लिया था, पर मैंने स्कूल में सिखाए जाने वाले विभिन्न कीर्तनों, भजनों, लोकगीतों के माध्यम से शास्त्रीय और



दूसरे प्रकारों का गायन सीखना जारी रखा। मैंने प्रतियोगिताओं और समूह प्रस्तुतियों में नियमित रूप से हिस्सा लिया। संगीत नृत्य के साथ-साथ चलता रहा और उस वातावरण ने कला की इन दोनों विधाओं के लिए मेरे भीतर प्रेम को विकसित और पोषित किया।

नृत्य में मेरे दूसरे साल के बाद मुझे यह महसूस होना शुरू हुआ कि मैं उतनी शारीरिक मेहनत नहीं झेल सकती थी और मैंने नृत्य बन्द करना चाहा। "तुम दो वर्षों के बाद क्यों बन्द करना चाहती हो? तीसरे साल से तुम इसके और विस्तृत अंश सीखना शुरू करोगी," मेरे शिक्षक और मित्रों ने मुझे समझाया। बात तो सच थी, एक बार मैंने अलरिप्पू और जतिस्वरम की शुरुआत की, तो मुझे नृत्य में और भी मज़ा आने लगा, पर अभी भी मुझे वह बहुत कठोर श्रम लगता था। मैं धीरे-धीरे एक से दूसरे साल में कूदती रही जब तक मैंने भरतनाट्यम में अपना पाँच साल का प्रमाणपत्र कार्यक्रम सफलतापूर्वक पूरा न कर लिया।

मेरे नृत्य शिक्षक बहुत उत्सुक थे कि मुझे कलाक्षेत्र में बारहवीं के बाद नृत्य को पूर्णकालिक व्यावसायिक पाठ्यक्रम के रूप में अपनाना चाहिए। पर मैंने इसके विपरीत निर्णय लिया। मैंने महसूस किया कि मेरे पास नृत्य के लिए ज़रूरी दम नहीं था, या शायद मेरे अन्दर लगन की कमी थी। स्कूल के मेरे अन्तिम दो सालों में, मैं अंशकालिक गायन कक्षाओं में शामिल हो गई थी। चूँकि मैंने स्कूल में अपना शास्त्रीय गायन जारी रखा था, अतः मुझे आगे बढ़ चुकी कक्षाओं में शामिल होने की अनुमति दे दी

**जब दम फूलता रहता तो भला मुझे मज़ा कैसे आता?**

गई, और मैंने कर्नाटक संगीत में अपने औपचारिक प्रशिक्षण का आनन्द लिया।

जब मेरा पीएचई कार्यक्रम शुरू हुआ, मैंने यह महसूस करना शुरू किया कि मुझे नृत्य से दूर हुए बहुत अधिक समय हो गया था और मुझे कलाक्षेत्र के पाँच सालों के प्रशिक्षण को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। और मैं खुद को चुस्त रखने के लिए किसी प्रकार की शारीरिक गतिविधि की तलाश में भी थी। मैंने देखा कि नृत्य से ये दोनों उद्देश्य पूरे हो जाएँगे। इसलिए मैंने फिर से नृत्य का अभ्यास प्रारम्भ करने का निश्चय किया।

मैं ऐसे नृत्य शिक्षक के साथ सीखने को उत्सुक थी जो कलाक्षेत्र की शैली का अनुसरण करता हो। शैलियाँ बदलने का और पहले से सीखे ज्ञान को "भूलने" का कोई मतलब नहीं था। और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात थी कि मैं इस शैली का सम्मान करती थी क्योंकि शरीर के गति विज्ञान पर इसकी गहरी पकड़ थी जिससे नृत्य को अनोखी सुन्दरता और सन्तुलन मिलते थे।

जब मैं गौतम अन्ना से मिली, तो उन्होंने कहा कि यदि मैं अपनी नृत्य की कक्षाएँ जल्दी शुरू करना चाहती हूँ तो स्कूल के साथ-साथ मुझे अपनी तरफ से भी इसके लिए प्रयास करना चाहिए।

मुझे खीझ हो रही थी। "यदि मुझे अपने शिक्षक खुद ही ढूँढने हैं और उनके साथ चीज़ें तय करना है, तो फिर स्कूल किसलिए है?" मैंने एक दिन उनसे पूछा।

"यह तुम्हारी शिक्षा का एक हिस्सा है बेटा," मेरी पीठ थपथपाते हुए उन्होंने कहा।

उस दिन मुझे उनका उत्तर अच्छा नहीं लगा। पर अन्ततः मैंने महसूस किया कि निश्चित ही इस तरीके से काम करने के अपने फायदे हैं। फोन नम्बरों का पता लगाना, लोगों के साथ मिलने का समय तय करना, उनसे मिलना, दफ्तरों में जाना और जानकारी लेना – यह सब तथा और भी बहुत कुछ खुद करने से मेरा आत्मविश्वास और बढ़ गया। नए लोगों से बातचीत करने या उनके साथ काम करने की मेरी झिझक भी खत्म हो गई।



मैंने श्रीमती सावित्री जगन्नाथ राव के बारे में और अड्यार में नृत्य विद्यालय में तब्दील हुए उनके घर से लगे गैराज "प्रदक्षिणा" के बारे में बहुत कुछ सुना था। वे बहुत ही मित्रवत और स्नेही थीं। जब मैंने उन्हें पीएचई कार्यक्रम के बारे में तथा ताकत में कमी के कारण नृत्य कक्षाओं में शामिल होने को लेकर अपनी झिझक के बारे में बताया तो उन्होंने मेरे सारे भय दरकिनार कर दिए।

"ताकत! वह तो मात्र अभ्यास द्वारा बनाई जा सकती है," उन्होंने कहा। "तुम्हें कड़ी मेहनत करना होगी। स्टैमिना थन्नला वन्धुदम (ताकत अपने आप विकसित हो जाएगी)।" मैं यह नहीं कहूँगी कि मैंने उनकी बात पर पूरी तरह भरोसा कर लिया पर मैंने एक बार फिर से कोशिश करने का निर्णय लिया।

सावित्री आंटी बहुत प्रोत्साहित करती थीं और धीरे-धीरे मैं अपनी "लय" वापस पाने लगी। मैं हफ्ते में तीन बार एक या दो घण्टे के लिए जाती थी। शुरुआत में इसकी सबसे खराब बात कक्षाओं में जाने की प्रक्रिया ही होती थी। बस के हिसाब से दूरी बहुत कम थी, ऑटो-रिक्शा से जाना बहुत महँगा पड़ता था (मुझे हफ्ते में तीन दिन आना-जाना पड़ता था) और पैदल के लिए दूरी बहुत अधिक थी। स्कूल से पूरा चलकर अपनी नृत्यकक्षा तक जाने में और फिर वहाँ से पूरा चलकर वापस स्कूल आने में मैं पूरी तरह से थक जाती थी। चेन्नई की गर्मी में हालत और खराब हो जाती थी। जब मैंने सावित्री आंटी को बताया तो वे बोलीं कि यह कवायद मेरी शक्ति बढ़ाने के लिए बढ़िया है! ऊफ! मैंने एक या दो महीने तक दृढ़ता से यह करना जारी रखा।

फिर मैंने एक साइकल खरीदी। मैंने कुछ साल पहले एक सूनी सड़क पर साइकल पर सन्तुलन बनाना सीख लिया था, पर मैंने तब से कोई साइकल चलाई ही नहीं थी। शहर के ट्रैफिक का सामना करना तो दूर की बात थी। मैंने कम ट्रैफिक वाली सड़कों पर बहुत सवेरे साइकल चलाने का अभ्यास करना शुरू कर दिया। मैं इतने तनाव में दिखती थी कि सड़क पर चलने वाले लोग एकदम से समझ जाते थे कि मैं सीख रही हूँ और मुस्कुरा देते थे। एक महीने के अभ्यास के बाद मैंने साइकल से स्कूल जाने का निर्णय लिया। जो पहले व्यक्ति मुझे स्कूल में दिखाई दिए वे थे अनन्त अन्ना। मैंने रोमांचित होते हुए उनकी तरफ हाथ हिलाया,

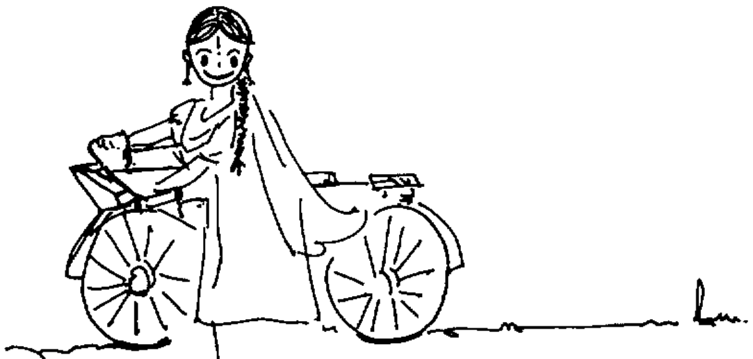

"अन्ना! आज मैं साइकल से आई हूँ!"

"अन्ना, आज मैं साइकल से आई हूँ!"

साइकल की मदद से नृत्य कक्षाओं में जाना तथा और कहीं भी आना-जाना बहुत आसान हो गया। अब छोटी दूरियों के सभी भ्रमण मेरे नियंत्रण में प्रतीत होने लगे। मैं प्रमुख सड़कों के ट्रैफिक से अभी भी डरती थी और बस चालकों तथा ऑटो वालों का मुझ पर चिल्लाना जारी रहा! पर फिर भी मैं बेहतर होती जा रही थी!

सावित्री आंटी को इस बात पर बहुत गर्व था कि उनके पास एक ऐसी विद्यार्थी है जो "कुछ अलग" कर रही है, और वे मिलने आने वालों से मेरा परिचय यह कहकर कराती थीं, "यह संयुक्ता है। ऐनैन्नावो इंट्रेस्टिंगा पानरा अवा। अवालये केट्टू तेरिन्जिको (यह बहुत-सी रोचक चीज़ें कर रही है। उससे पूछो और पता करो)।"

मैंने उनसे नई नृत्य रचनाएँ सीखना शुरू कीं। वे बहुत अच्छी रचनाकार थीं और नर्तकों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली उनकी रचनाएँ कलात्मक, अलग और रोचक होती थीं। कक्षा के दूसरे विद्यार्थी बहुत मददगार और मित्रवत थे। मैंने उन लोगों के और मेरे नृत्य के बीच एक बड़े महत्वपूर्ण अन्तर पर ध्यान दिया। जब वे लोग नृत्य करते थे, तो उसके हर मिनिट का लुत्फ लेते प्रतीत होते थे। मेरे लिए आनन्द उस राहत में होता था जो मैं नृत्य पूरा हो जाने पर महसूस करती थी! मुझे नृत्य करते समय आनन्द कभी नहीं आया। और मुझे इसकी लालसा थी। मैं अपने नृत्य के हर पल का आनन्द लेना चाहती थी, पर ऐसा बिरले ही हुआ। मैं नृत्य का आनन्द



कैसे ले सकती थी जबकि मैं हाँफ रही होती थी और मेरी साँस फूलती थी? मेरे पैर बहुत-बहुत दुखते थे! दूसरे लोग यह कैसे कर लेते थे?

यह सवाल मुझे परेशान करता था। और फिर अचानक "पंचोत्तरा" हुआ। सुमित्रा गौतम स्कूल में शिक्षिका हैं और उनकी शिक्षा कलाक्षेत्र से हुई थी। सन् 1998 के शुरू में स्कूल की पच्चीसवीं वर्षगाँठ के अवसर पर उन्हें पंचोत्तरा नामक नृत्य-नाटक करने का विचार आया, जो भारतीय पौराणिक कथाओं की पाँच स्त्रियों के जीवन में आई परिस्थितियों और उन पर उनकी प्रतिक्रियाओं पर आधारित था। सुमित्रा अक्का ने इस रचना के प्रत्येक पक्ष की संकल्पना की। उन्होंने खुद ही संगीत रचा और पोशाकें तक खुद तैयार कीं। संगीत के लिए गीत रचनाएँ शास्त्रीय साहित्यिक कृतियों जैसे "कृष्णावतार", "सुन्दरकाण्ड", "सिलप्पाधिकारम" आदि से ली गईं।

हम पाँच नर्तकियाँ थीं जो राधा (मैं खुद), उर्मिला (स्कूल की पुरानी विद्यार्थी विनुता), पार्वती (सुमित्रा अक्का), त्रिजटा (दिव्या अक्का, स्कूल की एक अन्य शिक्षिका) और कन्नगी (महालक्ष्मी, ग्यारहवीं की एक छात्रा) की भूमिकाएँ निभाने वाली थीं। जो पाँच स्थितियाँ प्रदर्शित की जाना थीं, वे थीं: जब कृष्ण कभी न वापस आने के लिए वृन्दावन चले जाते हैं तो राधा अपने इस गहरे दुख का सामना कैसे करती है; जब लक्ष्मण राम के

वाह संयुक्ता, वाह!!

साथ वन चले जाते हैं तो चौदह वर्षों के लिए ब्रह्मचर्य का जीवन जीने के लिए मजबूर उर्मिला की प्रतिक्रिया; अशोकवाटिका, जहाँ रावण सीता को ज़बरदस्ती ले आया है, में सीता की सखी की तरह त्रिजटा (विभीषण की पुत्री); कन्नगी की क्रोध से भरी प्रतिक्रिया, जब मदुरै का राजा ठोस सबूत के बगैर चोरी के झूठे आरोप में उसके पति को मार देता है; और पवित्र तप द्वारा शिव का प्यार जीतने के लिए पार्वती के प्रयास।

राधा के किरदार के अलावा मैंने दूसरे चरित्रों के लिए सहायक किरदार भी निभाए। जब कृष्ण वृन्दावन को चल देते हैं तो राधा गहरे दुख में है। वह हवा से याचना करती है कि हवा उसके प्रेम को कृष्ण तक पहुँचा दे और उन्हें बताए कि वह उनकी कितनी कमी महसूस करती है। वह सिर्फ एक और कृपा चाहती है – जब कृष्ण नाच रहे थे तो उनकी माला में से ज़मीन पर गिरे सिर्फ एक फूल को और उनकी बाँसुरी से निकले एक मधुर स्वर को हवा अपने साथ वापस ले आए। राधा हवा को सावधान करती है कि वह अपना ध्यान फूलों की सुगन्धों और झरने के संगीत से न बँटने दे और ऐसी कई दूसरी हिदायतें भी उसे देती है कि क्या करे और क्या न करे।

यह मुंशी द्वारा लिखी गई सुन्दर कृति थी और सुमित्रा अक्का ने शानदार ढंग से इसे रचा था। उन्होंने खुद हवा का किरदार निभाया। अधिकांश लोगों को वे अपनी उम्र से पन्द्रह साल छोटी लगती थीं, क्योंकि वे हमेशा हम सब लोगों में सर्वाधिक चुस्त, जीवन्त और सृजनशील दिखाई देती थीं। नृत्य करते हुए भी वे पूरी तरह से तनाव रहित दिखाई देती थीं जिससे हम सभी बहुत आनन्दित महसूस करते थे। आज तक मैंने ऐसा कोई व्यक्ति नहीं देखा जो इतनी सारी चीज़ें कर सकता हो और उनमें से प्रत्येक चीज़ में इतने उत्कृष्ट तरीके से अपना हृदय और आत्मा डाल देता हो। सुमित्रा अक्का में अविश्वसनीय ऊर्जा है और कभी-कभी मुझे लगता है कि वे दैवी महिला हैं।

नृत्य की रचना पर काम करने से पहले हमने कई व्यायाम किए – शारीरिक और मानसिक, दोनों – जिनमें वाचन, गायन और शारीरिक गतिविधियाँ शामिल थीं। हमने सभी पात्रों की विस्तार से चर्चा की। सुमित्रा अक्का ने हर पात्र और उसके विभिन्न आयामों के बारे में हमसे बात की। कभी-कभी किसी वार्तालाप के दौरान मैं उनकी कही गई सभी



बातें तो नहीं समझ पाती, पर जिस सच्चाई से वे बात करती थीं और जिस गहनता से वे हर पात्र के बारे में उनके अपने अर्थों की व्याख्या करती थीं, उसमें भरपूर भाव होता था और उसी की समझ मंच पर हमारे नृत्य से प्रगट होती थी।

मैं अपनी ज़िन्दगी में पहली बार किसी विरह में डूबी दुखी प्रेमिका का किरदार निभा रही थी। और वह भी राधा का किरदार जो ताउम्र एक शाश्वत प्रेमिका बनी रही! अगर उस समय मेरा कोई प्रेमी होता तो शायद मुझे मदद मिलती पर दुर्भाग्य से मेरा कोई प्रेमी नहीं था। राधा के चरित्र और भगवान कृष्ण के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में जो भी पढ़ सकती थी, मैंने पढ़ा। सुमित्रा अक्का की मदद से मैंने जितना सम्भव हो विश्वसनीय दिखने का भरसक प्रयास किया।

पंचोत्तरा में मैंने अपने बारे में और नृत्य के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण पाठ सीखे। मैंने सुमित्रा अक्का से सीखा कि बजाय उस चरित्र का सिर्फ अभिनय करने के, जो मैं निभा रही थी, मैं वह चरित्र ही हो जाऊँ। यदि आप किसी हंस का किरदार निभा रहे हैं, तो महसूस कीजिए कि आप एक हंस हैं और हंस हो जाइए, सिर्फ हंस जैसे नाचिए मत।

पंचोत्तरा ने मुझे नृत्य में वह "नाटक" दिया जिसकी मुझे तलाश थी। मुझे अभिनय (भावाभिव्यक्ति) बहुत प्रिय है। नियमित नृत्य में यह समस्या है कि हमें तब तक अभिनय करने का मौका नहीं मिलता जब तक कि शिक्षक हमारे पसीने और थैया थै के संघर्ष से सन्तुष्ट न हो जाए। पंचोत्तरा में अभिनय के लिए पर्याप्त गुंजाइश थी क्योंकि मुझे कई भूमिकाएँ निभाना थीं। इसके साथ ही इनमें बहुत कल्पनाशील जतियाँ और अडवु थे जो नाटक में चरित्रों को अलंकृत करते थे और उनके कारण प्रस्तुति परम आनन्दपूर्ण हो जाती थी। मुख्य बात थी अभिनय या जति की प्रस्तुति देते समय पूरे प्रसंग के दौरान वह चरित्र बने रहना। मैंने उस तैयारी के महत्व का आनन्द उठाया जो किसी चरित्र को समझने में लगती है और उन शारीरिक व्यायामों का भी मज़ा लिया जो उस चरित्र को प्रदर्शित करने की तैयारी में आपकी मदद करते हैं।

जो किरदार निभाने में मुझे सबसे ज़्यादा मज़ा आया वह मेरे केन्द्रीय चरित्र

राधा का नहीं था बल्कि उस राक्षसी का था जो त्रिजटा वाले प्रसंग में बेचारी सीता को लगातार ताने मारती रहती है और यातनाएँ देती रहती है। मुझे यह चरित्र बहुत पसन्द आया और मैंने यह किरदार इतनी आसानी और आत्मविश्वास से निभाया कि मैंने कभी इतना सन्तुष्ट महसूस नहीं किया। यहाँ तक कि मेरे पिता ने भी खासतौर पर मेरे इस प्रदर्शन को सराहा। "बुरे" होने के लिए सराहा जाना बहुत बढ़िया था! वास्तविक जीवन में ऐसा कभी नहीं होता, होता है क्या?

पंचोत्तरा ने मुझे एक और उपहार दिया, विनुता के रूप में एक बहुत अच्छी दोस्त। यह पहली नज़र का प्यार नहीं था। हम अपनी पंक्तियाँ याद करते हुए और अभ्यास करते हुए रोज़ एक-दूसरे को देखते रहते, पर शुरुआत में बात "हाय" और "बाय" से आगे नहीं बढ़ी। समय बीतने के साथ हमारा सम्बन्ध एक सुन्दर मित्रता के रूप में खिला। हमारी कई पसन्द और नापसन्द एक जैसी थीं, पर ज़्यादा महत्वपूर्ण बात यह थी कि जब हम भिन्न राय रखते थे तब भी हमने एक-दूसरे का सम्मान किया। हम कई संगीत, नृत्य और फिल्म महोत्सवों में जाते थे, फास्ट फूड रेस्टोरेंटों व समुद्रतट पर जाते थे तथा एक-दूसरे के साथ का भरपूर आनन्द लेते थे। मेरे जीवन में जो कुछ भी हो रहा होता था यह जानने वाली सबसे पहली व्यक्ति विनुता ही होती थी।

एक दिन हमने पंचोत्तरा के प्रदर्शन का विडियो टेप देखने का निश्चय किया। हम लोग यह देखने के लिए वाकई उत्साहित थे कि हमने कैसा प्रदर्शन किया था, खासकर उन तमाम बढ़िया समीक्षाओं के बाद, जो हमें

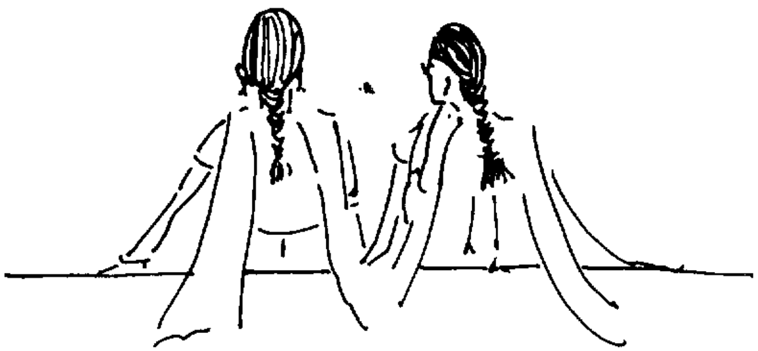

**एक अच्छी दोस्त विनुता**



मिली थीं। पर देखकर बड़ी निराशा हुई! मुझे लगा कि मैं बहुत खराब थी। मैं ऐसी कम से कम आधा दर्जन चीज़ें पहचान सकी जिनपर मुझे काफी सुधार करना था। मुझे अत्यधिक ठेस पहुँची और गुस्सा आया, सबने क्यों कहा था कि मैं अच्छा नाची थी?

उस दिन बाद में मैंने अपनी डायरी में लिखा, "आज मुझे इतना ज़्यादा दुख क्यों हुआ? जैसा कि जेके कहते हैं: मुझे लगता है कि दूसरों के कहने से मैंने अपनी एक छवि बना ली थी कि 'मैं अच्छी नर्तक हूँ'। पर जब मैंने अपनी उस 'अच्छी' छवि के टुकड़े होते देखा तो मेरे अहं को ठेस पहुँची और मैं सोच रहीं हूँ, 'क्या मैं वाकई इतनी बुरी हूँ'। मुझे लगता है कि हमारा दुखी होना या खुश होना इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपनी कैसी छवि बनाते हैं और दूसरे जब हमसे कुछ कहते हैं तो उससे वह कैसे प्रभावित होती है...।" विनुता और मैंने एक-दूसरे को यह कहकर सान्त्वना दी कि "कैमरे की आँख" ने हमारी खामियों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया और शायद हम मंच पर उतने बुरे नहीं थे। हालाँकि मुझे बड़ा दुख हुआ और अपनी नृत्य क्षमताओं से मेरा मोहभंग हो गया, पर मैंने खुद को एक और मौका देने का और अपनी गलतियों को सुधारने पर ध्यान केन्द्रित करने का निर्णय लिया।

अगस्त 1998 में, ऑरोबिन्दो जयन्ती की पूर्वसंध्या पर सुमित्रा अक्का ने एक दूसरी नृत्यकृति निर्देशित की – "अर्थ बाउण्ड, हैवन ऐमोरस" – जिसका मंचन ऑरोविल, पाण्डिचेरी में किया गया। यह कृति नृत्य, संगीत, मूकाभिनय और कविता पाठ का सम्मिश्रण थी तथा ऑरोबिन्दो की कविता पर आधारित थी। हालाँकि हमने पंचोत्तरा की तरह से इसके लिए भी अभ्यास किए, पर मैं वास्तव में ऑरोबिन्दो की कविता से ही सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकी। सुमित्रा अक्का ने हमारी मदद करने की पूरी कोशिश की कि हम कविता का रस ले सकें। पर मुझे वह समझने, आत्मसात करने और प्रस्तुत करने के हिसाब से अत्यन्त गूढ़ लगी। मुझे वाकई राहत मिली जब वह सब निपट गया।

उसके बाद नृत्य के अभ्यास ठीक से नहीं चल पाए। मैंने लगभग डेढ़ साल तक सावित्री आंटी के साथ अपनी कक्षाओं को जारी रखा, पर उनमें मैं सचमुच में अपना सर्वश्रेष्ठ नहीं दे पाई। यद्यपि, इस बीच संगीत में मेरी खोजें जारी रहीं।

चेन्नई की सबसे अच्छी बात है वहाँ का वार्षिक सांस्कृतिक समारोह। हर साल दिसम्बर और जनवरी के महीनों में चेन्नई शहर शास्त्रीय, खासतौर पर कर्नाटक शैली के नृत्य-संगीत की लय पर झूमता है। भारत के सभी हिस्सों से गायकों, वादकों और नर्तकों के समूह शहर में एकत्रित होते हैं और वहाँ के दर्शकों/श्रोताओं के लिए अपने फन का प्रदर्शन करते हैं। हर कलाकार के मन में उनकी सराहना पाने की अभिलाषा रहती है।

चेन्नई में हर गली और नुक्कड़ में सभा होती है और तम्बूरे की गूँज सुबह दस से लेकर देर रात तक सुनी जा सकती है। कुछ सभाओं में स्वल्पाहार की सुविधाएँ भी होती हैं, ताकि रसिकजन बिना व्यवधान के संगीत सभाओं का आनन्द उठा सकें। मुझे हर वर्ष सांस्कृतिक समारोह का इन्तज़ार रहता था, और मैं हर रोज़ कम से कम एक गोष्ठी (चाहे नृत्य की हो या संगीत की) में ज़रूर जाती थी।

ऐसे उत्साही दर्शकों के बीच बैठना जो सिर हिलाते हैं, झूमते हैं और ताल देते हैं, अपने आप में एक अनुभव होता था। दर्शकों में कुछ लोग छोटी डायरियाँ लाते और प्रस्तुति देने वाले कलाकार द्वारा गाए जा रहे रागों और कृतियों को लिख लेते। यदि आप संगीत से ऊब गए होते तो भी आस-पास पर्याप्त मनोरंजन उपलब्ध था। आपको सिर्फ अपना सिर उठाकर देखना भर होता था। एक सिर सराहना में इतने जोश से हिल रहा होता कि ऐसा लगता जैसे वह धड़ से अलग होकर ज़मीन पर लुढ़कता चला जाएगा। कुछ लोग दोपहर की धूप, संगीत और शायद दही-भात के कारण भी, गहरी नींद में खो जाते थे। कभी-कभी आपके ठीक आगे बैठा व्यक्ति अपने हाथ उठाता और कलाकार की तरफ इशारा करके कहता "वाह! प्रमादम! (बहुत बढ़िया!)" इस प्रकार कभी-कभी कलाकार की तुलना में दर्शकों को देखना ज़्यादा रोचक होता है!

एक संगीत सभा में, एक 60 वर्षीय महिला मेरे बगल में बैठी थीं। गायक ने आलाप बस शुरू ही किया था, "थडारिन्नाना...."

तुरन्त ही महिला की तरफ से प्रतिक्रिया हुई, "शुद्ध धन्यासी इल्ले? (यह शुद्ध धन्यासी है न?)"

ऐसा नहीं था कि उन्हें मेरी पुष्टि की कोई ज़रूरत थी। मैं इतनी आसानी से राग कभी नहीं पहचान पाती थी और कई बार मैं बस शर्मिन्दगी में सिर



हिलाती थी, "तेरिइले (मुझे नहीं पता)।" आलाप और वायलिन वादन के बाद, जैसे ही गीत शुरू होने वाला था, उन्होंने बुदबुदाना शुरू कर दिया – जो मैं सुन पा रही थी – "भावामूलो" और उत्सुकता से कलाकार की तरफ देखने लगीं। और आप विश्वास करें या न करें, गायक ने "भावामूलोना भाग्यामुलन्डुनु गोविन्दा गोविन्दा...." गाना शुरू कर दिया। मुझे अपने कानों पर यकीन नहीं हुआ। उस महिला ने मेरी तरफ इस तरह देखा मानो कह रही हों कि, "देखा, मुझे पता था"। ज़ाहिर है उन्हें पता था। मुझे ऐसे लोग सर्वज्ञ प्रतीत होते थे।

इस प्रस्तुति के बारे में दूसरी अद्भुत बात यह थी कि "तनि आवर्त्तनम्", जो मुख्य अंश के अन्त में आता है, के दौरान सिर्फ तालवाद्य, जैसे मृदंगम् और घटम् या कंजीरा, जुगलबन्दी में इस तरह बजते कि वह प्रश्नोत्तर या "जैसे को तैसा" जैसा सुनाई देता था। फिर पूरा सभाग्रह "तक तक तक तक" की ध्वनि से गूँज उठता – दर्शक लय में अपनी जंघाओं पर ताल देते और कलाकार की तरफ देखकर कुछ यूँ सिर हिलाते मानो उसकी प्रस्तुति पूरी तरह से केवल इनके ताल बनाए रखने पर ही निर्भर थी!

टीवी शंकरनारायणन (टीवीएस) मेरे पसन्दीदा गायक हैं। वे मूर्धन्य गायक, मदुरै मणि अय्यर के भानजे हैं। जब टीवीएस मंच पर प्रस्तुति देने के लिए बैठते हैं, तो वे जैसे सात सुरों के साथ अनगिनत तरीकों से खेलते रहते हैं। और आप अचम्भित हो यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि किसी मनुष्य के लिए यह करना कैसे सम्भव है – वह भी हर बार राग के अपने अनोखे लाक्षणिक विन्यासों और संयोजनों के साथ। वे ऐसी सहज तल्लीनता और भावाभिव्यक्ति के साथ गाते हैं कि उनकी प्रस्तुति आपको मंत्रमुग्ध कर देती है।

उनकी सभाओं में जिस परमानन्द अवस्था का मुझे अनुभव होता था, उसे मैं शब्दों में नहीं बाँध सकती। अच्छा संगीत हमेशा मेरी आँखों में आँसू ले आता और एक अनजान उमंग मुझे घेर लेती। यह ज़ाहिर है कि संगीत को दैवी कला क्यों कहा जाता है। मैं खुद को सचमुच धन्य महसूस करती कि मैं इन संगीतकारों की प्रस्तुतियों का आनन्द उठा पाती थी।

ऐसा लगता था कि मुझे नृत्य में कभी वैसा आनन्द नहीं आता जैसा गायन में आता था, भले ही वह स रे ग म प ध नी स जैसी साधारण बन्दिशें ही

क्यों न हों। इसलिए मैंने अपना संगीत गम्भीरतापूर्वक जारी रखने का निर्णय लिया, हालाँकि एक शौक की तरह। यद्यपि मैंने सावित्री आंटी के साथ डेढ़ साल सीखने के बाद नृत्य का अभ्यास छोड़ दिया, पर मैं संगीत वाकई कभी नहीं छोड़ पाई। मैंने श्रीमती न्याना के मार्गदर्शन में अपनी शिक्षा जारी रखी। वे अत्यधिक स्नेही व धैर्यवान शिक्षिका थीं। वे राजी आंटी की मित्र थीं और उन्होंने अपने खुद के गुरू की तरह ही बिना पारिश्रमिक लिए विद्यार्थियों को सिखाने का निर्णय लिया था। मैंने नियमित तौर पर अभ्यास किया। कभी-कभी नियम में व्यवधान भी आते पर मैं बहुत अधिक समय तक स रे ग म से दूर नहीं रह सकती थी।

## ऑरीगैमी: कागज़ से स्वर्ग

मेरे योग शिक्षक श्री मुकुन्दन ने एक सुबह मुझसे पूछा, "तुम हमारे साथ शामिल क्यों नहीं होतीं? हम श्री नटराजन से मिलने वाले हैं। वे एक वास्तुशिल्पी हैं और मैंने सुना है कि वे कुछ रोचक चीज़ें कर रहे हैं।"

"वास्तुशिल्पी?" मैंने एक पल के लिए सोचा और फिर जाने को राज़ी हो गई।

जल्दी ही हम वहाँ थे। और मैंने जो वहाँ देखा वह न सिर्फ मनमोहक था बल्कि चकित कर देने वाला भी!

श्री नटराजन को, जो प्यार से छोटू कहलाते थे, ऑरीगैमी अर्थात् कागज़ मोड़ने की जापानी कला से प्रेम था। जब हम ऑरीगैमी के बारे में सोचते हैं तब हम कागज़ को मोड़-मोड़कर बनाए गए पशुओं, पक्षियों और फूलों के बारे में सोचते हैं। पर श्री नटराजन के दिमाग में कुछ और ही था। उन्होंने कागज़ की कला की पूरी तरह से नई तकनीक विकसित की थी जो वास्तुकला को ऑरीगैमी से जोड़ती थी। इसका नतीजा थी खुलकर खड़े हो जाने वाले (पॉप-अप) त्रि-आयामी भवनों, सीढ़ियों, मकानों और ज्यामितीय आकारों की जादुई दुनिया! उनके "वास्तुशिल्प के अजूबे" इस्लामिक कला पर आधारित शानदार रंगों और नमूनों से अलंकृत थे।

"क्या आप मुझे सिखाएँगे....? मेरे पास समय ही समय है," मैंने प्रार्थना के स्वर में पूछा।

उन्होंने मेरी तरफ आश्चर्यचकित होकर देखा।



एक 18 वर्षीय लड़की कैसे कह सकती है कि उसके पास समय ही समय है? वे ऐसा सोचते से प्रतीत हुए।

मैंने तुरन्त अपने स्कूल के बाद के जीवन की कहानी से शुरुआत की और उन्हें बताया कि मुझे उनके काम से प्यार हो गया है।

"मैं आमतौर पर सिखाता नहीं हूँ...." उन्होंने उत्तर दिया।

मैंने अपनी साँस थामे रखी।

"पर... ठीक है। तुम कब आना चाहती हो?"

मैं रोज़ उनके घर जाती थी और अपनी डेस्क पर काम करती थी। श्री नटराजन अपनी वास्तुशिल्प की योजनाओं पर काम करते हुए यदा-कदा मेरे प्रयासों का निरीक्षण करते, उनकी उँगलियों के बीच हमेशा एक सिगरेट फँसी होती थी।

वास्तुकला की ऑरीगैमी की सबसे चकित कर देने वाली बात यह थी कि प्रारूप के तीनों आयाम कागज़ को काटकर नहीं बल्कि सिर्फ उचित काट और मोड़ देकर उभरते हैं। कागज़ का नुकसान बिलकुल नहीं होता, हालाँकि रचनाकृति खुद ऐसा आभास दे सकती है कि उसमें से विशाल टुकड़े काटे गए हैं। श्री नटराजन एक पेपर कटर से सही स्थानों पर कागज़ को काटते और अपनी उँगलियों से दक्षता के साथ काम करना शुरू कर देते। इससे पहले कि आप "छू मन्तर" कह सकें, वे एक कलात्मक सीढ़ी, एक प्यारा छोटा घर या एक स्वप्न भवन तक बना चुके होते।

श्री नटराजन डच चित्रकार एम.सी. एस्चर की रचनाओं के दीवाने थे। वे एस्चर के कई आभासी घरों और सीढ़ियों को अपने नमूनों में अपनाने की कोशिश करते थे। कहने की ज़रूरत नहीं है कि यह आसान नहीं था। दो आयामों में कल्पना करना और फिर उसे तीन आयामों में देखना बहुत पेचीदा काम है। कागज़ का कौन-सा हिस्सा इमारत की ऊँचाई बनाएगा, कौन-सा हिस्सा छत या ऊपरी भाग, कौन-सा हिस्सा पहली और दूसरी मंज़िलों को जोड़ने वाली छोटी सीढ़ियाँ बनाएगा – यह सब आपके सामने सपाट कोरे सफेद कागज़ पर तय करना पड़ता है। आपकी सभी गणनाएँ करने के बावजूद यदि ऊँचाइयाँ और चौड़ाइयाँ ठीक अनुपात में नहीं हैं,

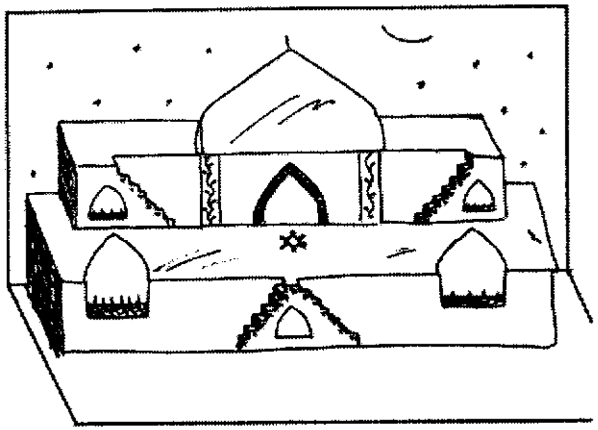

मेरा त्रि-आयामी ताजमहल

तो वह नमूना अपनी स्थिरता खो देगा और ढह जाएगा। वास्तुशिल्प ऑरीगैमी में इन सभी पक्षों की समझ होना बहुत ज़रूरी है और श्री नटराजन इसमें निश्चित ही बहुत उस्ताद थे।

उनसे सीखने के बाद, मैंने अपने-आप से एक या दो नई कृतियाँ बनाने का प्रयास किया। बहुत प्रयास के बाद ताजमहल का सरलतम नमूना बनाने में सफल हुई। उफ! पर यह तकनीक मुखौटे, लैम्पशेड और ग्रीटिंग कार्ड तक बनाने के लिए अपनाई जा सकती है। आज भी मेरे लिए ऑरीगैमी आधारित पॉप-अप कार्ड दोस्तों और रिश्तेदारों को प्रभावित करने के सबसे आसान तरीकों में से एक है।

वापस स्कूल में – और एक बिलकुल नई कला सीखकर – मैंने पाया कि विद्यार्थियों में पहली बार सच में यह जानने की रुचि बनी कि मैं क्या कर रही हूँ। जब एक दिन मैंने प्रार्थना सभा में एक के बाद एक रचनाएँ दिखाई तो मैं लोगों की अचम्भित साँसें सुन सकती थी। सभी इतने प्रभावित थे कि मुझे ग्यारहवीं के कुछ विद्यार्थियों को सिखाने का मौका भी दिया गया।

यह दुख की बात है कि श्री नटराजन आज हमारे बीच नहीं हैं। सन् 2001 में उनका देहान्त हो गया, शायद हृदयाघात के कारण। मैंने पीएचई पूरा करने के दो साल बाद इसके बारे में अखबारों में पढ़ा। पढ़कर ऐसा लगा जैसे कोई भव्य सीढ़ी ढह गई हो।



## लाइट्स, कैमरा, एक्शन!

"मुझे हमेशा अभिनय करने की चाह रही है..."

क्या यह बात सुनी हुई सी लगती है? मुझे यकीन है कि ऐसा ही होगा। आपने भेंटकर्ता द्वारा इस सम्बन्ध में सवाल किए जाने पर कई अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को बड़ी अदा से, अपने बालों को हाथ से हटाते हुए, यह कहते सुना होगा। पर मेरे सम्बन्ध में अन्तर यह है कि मुझसे कभी किसी ने यह सवाल नहीं किया और न ही मुझे यह कहने का मौका मिला कि, "मैंने तो हमेशा ही अभिनय करना चाहा है।"

यदि किसी चीज़ को अच्छा करने का मुझमें आत्मविश्वास था, तो वह था अभिनय। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था कि उस समय तक मैंने एक भी नाटक में अभिनय नहीं किया था। इससे फर्क नहीं पड़ता था कि कभी किसी ने मुझसे यह नहीं कहा, "अरे! तुम अभिनय क्यों नहीं करतीं? तुम अच्छी अभिनेत्री सिद्ध होगी।" इससे भी फर्क नहीं पड़ता था कि मेरी अभिनय करने की क्षमता का कभी परीक्षण नहीं हुआ था। किसी तरह, मैंने अभिनय करने की इस गुप्त इच्छा को पोषित किया।

चूँकि मैंने कलाक्षेत्र में नृत्य की शिक्षा ली थी, मुझे नृत्य प्रस्तुतियों के लिए हमेशा चुना जाता था तथा कभी-कभी संगीत प्रतियोगिताओं के लिए भी चुना जाता था। मैं स्कूल के वार्षिकोत्सवों के दौरान नाटक के पूर्वाभ्यासों को देखा करती, दिल से सभी संवाद याद करती और मेरे अपने मंच पर – छात्रावास के बाथरूम में – उनका अभ्यास करती।

मैंने अक्सर अपने से पूछा है कि रंगमंच के बारे में ऐसा क्या है जो मुझे इसमें इतनी रुचि है। चाहे यह वास्तव में फिल्मों में रुचि हो या रंगमंच में, मैंने पाया है कि मुझमें दृश्य माध्यम के प्रति बड़ा आकर्षण है। तो चाहे रंगमंच हो या फिल्म, चित्रकारी हो या नृत्य – अभिव्यक्ति के ये सभी तरीके छपे हुए या अकादमिक माध्यम की तुलना में मुझे ज़्यादा आकर्षित करते हैं।

अच्छी फिल्में देखने के अलावा – मुझे हमेशा तथाकथित कला सिनेमा और व्यवसायिक फिल्मों, दोनों में ही मज़ा आया है – मुझे उनके विभिन्न पक्षों की चर्चा करना बहुत अच्छा लगता है। अभिनेता का वह एक भाव

जो सौ शब्दों की बात कह देता है, वह एक दृश्य जिसपर कहानी खत्म होती है, कैमरे का वह एक शॉट जिससे फ्रेम को एक नया अर्थ मिल जाता है, वह एक गीत जो आपको कई दिनों तक याद आता रहता है – मेरा खयाल है कि मुझे फिल्म का अनुभव बहुत प्रिय है। अखबार का फिल्म-समीक्षा वाला हिस्सा मैं ज़रूर पढ़ती थी और मुझे फिल्म आलोचकों से ईर्ष्या होती थी, जिन्हें अलग-अलग देशों की सभी प्रकार की फिल्में देखने को मिलती थीं और इसके लिए उन्हें पारिश्रमिक भी दिया जाता था! तो यह स्पष्ट नहीं था कि मैं फिल्मों की सिर्फ बहुत बड़ी प्रशंसक थी या कि फिल्म बनाने के काम से जुड़ने के प्रति गम्भीर थी। क्या मैं इस उलझन में फँस रही थी कि मैं फिल्मों से प्यार करती थी या फिर रंगमंच से – जैसा कि अक्सर बॉलीवुड के प्रेम त्रिकोणों में होता है?

स्कूल में हर वर्ष एक नाटकोत्सव होता था। उसमें विभिन्न स्कूलों के विद्यार्थी नाटकों का मंचन करते थे और उसके बाद चर्चा होती थी।

मुझे स्कूल द्वारा प्रस्तुत किए गए एक नाटक, "जहाँ नदियाँ मिलती हैं" में अभिनय करने का मौका मिला। यह गिरीश कर्नाड के नाटक "ताले डण्डा" पर आधारित था। इसे सुमित्रा अक्का ने निर्देशित किया था। हमेशा की तरह उन्होंने सुनिश्चित किया कि हम सब नाटक के सभी पक्षों में शामिल रहें।

कई दिनों तक हमने सिर्फ कुछ ऐसे अभ्यासों पर ध्यान केन्द्रित किया जिनसे हम एक-दूसरे के साथ सहज महसूस करने लगें, शारीरिक और मानसिक, दोनों तरह से। यह मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि हम सहपाठी तक नहीं थे। हमने नाटक के चरित्रों के बारे में कई चर्चाएँ कीं और रोचक खेल खेले। ऐसे ही एक खेल में हमें एक कागज़ की पर्ची पर अपने व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए पाँच वाक्य लिखना थे। फिर हमने उन सभी पर्चियों को मिला दिया और प्रत्येक व्यक्ति ने एक पर्ची उठाई। इसके बाद हम पर्ची पर लिखे उन पाँच वाक्यों से उस व्यक्ति के चरित्र का विश्लेषण करते और फिर उसका अभिनय भी करते।

जो पर्ची मैंने उठाई, वह किसी लड़के की प्रतीत हुई। अब मैंने यह अनुमान कैसे लगाया? बस मुझे महसूस हुआ। ऐसा लगा कि उसका दिमाग चंचल था। मैंने बेसेन्ट नगर तट पर बैठे दो प्रेमियों की बातचीत के रूप में इस



चरित्र का अभिनय करने के बारे में सोचा। जब मेरी बारी आई, तो मुझे बड़ी घबराहट महसूस हुई। मैं पहली बार अभिनय करने वाली थी। मैं गोले के केन्द्र तक गई और किसी तरह अपना हिस्सा पूरा किया। वहाँ ज़ोरदार तालियाँ बजीं! "बहुत खूब संयुक्ता, बहुत खूब," बेहद खुश होकर तालियाँ बजाते हुए सुमित्रा अक्का कह रही थीं। यह लगभग ऐसा था जैसे कि मैं कोई फिल्म अभिनेत्री थी जिसने कैमरे के सामने अपना पहला शॉट सफलता से पूरा किया था। थोड़ी देर बाद बारहवीं कक्षा की एक लड़की मेरे पास आई और बिना झिझक के बोली, "आपको पता है, मुझे लगता है कि आपको किसी से प्यार हो गया है।" पर ऐसा था नहीं। फिर भी मेरे अभिनय से उस लड़की को ऐसा लगा। इस पूरे प्रसंग ने मुझे यह आत्मविश्वास दिलाया कि मैं अभिनय कर सकती हूँ।

हमारे नाटक में नृत्य के प्रसंग थे, गूढ़ शारीरिक भाव-भंगिमाएँ थीं, तप्पट्टम (तप्पू नामक छोटे ढोलक के साथ नृत्य करना) और गाना था। यह कन्नड़ सन्त बासवन्ना पर आधारित एक ऐतिहासिक कहानी थी। इसमें कई पुरुष चरित्र थे पर स्त्रियों के किरदार बहुत कम थे। मेरा कोई एक विशेष किरदार नहीं था पर मैं विभिन्न चरित्र निभाते हुए अन्दर-बाहर होती रही। मेरे लिए एक छोटा-सा नृत्य भी तैयार किया गया था जो बुराई पर अच्छाई की जीत को प्रदर्शित करता था। मैंने नाटक के हर पल का आनन्द लिया – पूर्वाभ्यास, अपनी पंक्तियों को याद करना, दूसरों को देखना, अक्का के साथ पटकथा को विकसित करना। यह निश्चित ही रंगमंच के साथ मेरी पहली मुलाकात थी।

मुझे उन चर्चाओं में बहुत मज़ा आता था जो हम हर नाटक के बाद "निर्णायक मण्डल" के सदस्यों तथा अभिनेताओं के साथ करते थे। नाटक के विभिन्न पक्षों को सामने रखा जाता था जैसे, कलाकार दल का मिलकर काम करना तथा अभिनेता से अभिनेता को मिलने वाला स्पन्दन आदि। इन सभी में कुछ रोचक प्रश्न और विचारोत्तेजक बातें उभरकर आती थीं।

एक दिन मैं किसी दूसरे स्कूल द्वारा प्रस्तुत सामाजिक सन्देश वाला एक बहुत ही प्रेरक नाटक देखकर बस से घर लौट रही थी। मैं तब नाटक के हिस्सों को ही याद कर रही थी, जब मुझे अचानक महसूस हुआ कि बस डगमगा रही थी। मेरे होश उड़ गए जब मैंने पीछे देखने वाले शीशे

में देखा कि ड्राइवर शराब पिए हुए सा प्रतीत हो रहा था और वह अपनी आँखें खुली नहीं रख पा रहा था। मैं सोच में पड़ गई कि मुझे क्या करना चाहिए। ड्राइवर का विरोध करने में मुझे हिचक महसूस हुई। अगर वह शराब पिए हुए न हुआ तो? "बहुत सम्भव है कि हम सुरक्षित घर पहुँच जाएँगे। इसलिए परवाह क्यों की जाए?" मैंने सोचा। पर अगर ऐसा नहीं हुआ तब क्या? तब जवाबदारी मेरी होगी कि मैंने बाकी यात्रियों को यह बात नहीं बताई। यह कुछ करने का समय था! "बस उठो और ड्राइवर का सामना करो!" मेरी अन्तरात्मा ने मुझसे कहा। "नाटक देखने और उनसे प्रेरित होने का क्या फायदा यदि ज़रूरत के समय आप कुछ कर न सको?"

मैं कण्डक्टर के पास गई और उससे बस को तुरन्त, वहीं रोकने के लिए कहा क्योंकि ड्राइवर खतरनाक ढंग से बस चला रहा था। "वह शराब पिए हुए है। उसे रोको, अभी!" मैंने लगभग चिल्लाते हुए कहा। कण्डक्टर व्यंगपूर्ण ढंग से मुस्कुराया, "तुम्हें कैसे पता? क्या तुम उसके साथ गई थीं?" उसने पूछा। मैंने लगभग चिल्लाते हुए उसका नाम पूछा और उससे कहा कि मैं अभद्र व्यवहार के लिए सम्बन्धित अधिकारियों से उसकी शिकायत करूँगी। जल्दी ही बस की बाकी महिलाएँ भी मेरे साथ शामिल हो गईं और कण्डक्टर ने मजबूर होकर ड्राइवर के पास जाकर उससे कुछ कहा। इसके बाद ड्राइविंग में सुधार हुआ। जब मैं अपने बस-स्टॉप पर उतरने लगी तो कण्डक्टर ने मुझ पर ताने कसे। मुझे अभी भी यह सन्देह कचोटता है कि वह ड्राइवर वास्तव में शराब पिए हुए था या केवल थका हुआ था। बहरहाल, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि वह खतरनाक ढंग से गाड़ी चला रहा था और मैंने वही किया जो ठीक था।

जिस पहले फिल्म महोत्सव में मैंने शिरकत की वह था *नायिका* जो 1997 में अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के मौके पर आयोजित किया गया था। यह एक दिन का कार्यक्रम था तथा प्रवेश निःशुल्क था। मैंने तीन हिन्दी फिल्में देखीं। हर फिल्म दिखाए जाने के बाद या तो उस फिल्म का निर्देशक या फिर मुख्य अभिनेता दर्शकों से रूबरू होता था। मैंने आज के सर्वश्रेष्ठ निर्देशकों -- श्याम बेनेगल, अपर्णा सेन और सईद मिर्ज़ा – द्वारा बनाई गई फिल्में देखीं। फिल्मों के चाहने वालों और फिल्म निर्माताओं के बीच बैठने का यह मेरा पहला मौका था। और हमने फिल्म के अलग-अलग पक्षों की



चर्चा भी की। मुझे गम्भीर सिनेमा के पीछे की सोच को देखने और समझने का मौका मिला।

वृत्तचित्र हमेशा ही उबाऊ होते हैं – ऐसा मैं सोचती थी। घिसेपिटे श्वेत और श्याम छायांकन, एक ठण्डी निर्जीव वृत्तान्त के बारे में सोचकर ही उबासी आती थी – जब तक कि मैंने आनन्द पटवर्धन की फिल्में नहीं देखी थीं। चेन्नई में आयोजित दो दिवसीय फिल्म महोत्सव में मैंने उनकी लगभग चार फिल्में देखीं – *नर्मदा डायरी; राम के नाम; फादर, सन एण्ड होली वॉर* तथा *बॉम्बे, अवर सिटी*। अचानक जिस कुर्सी पर मैं बैठी थी उसमें मुझे कुछ बेचैनी मालूम हुई। ऐसा लगा जैसे मैं काँटों पर बैठी थी। उनके सरल परन्तु बुद्धिमत्तापूर्ण सवाल बहुत साधारण लोगों से भी अति प्रभावी और कुशल उत्तर निकाल लाते थे। इन सवालों ने मुझे सोचने, प्रश्न करने और चिन्तन करने पर मजबूर कर दिया। यह अनुभव और भी बेहतर बन गया जब श्री पटवर्धन ने फिल्म के बाद हुई चर्चाओं में हिस्सा लिया। इस फिल्म महोत्सव ने वृत्तचित्रों के प्रति मेरे पूर्वाग्रह को हमेशा के लिए दूर कर दिया।

हमें रंगमंच की प्रस्तुतियाँ इतनी आसानी से देखने को नहीं मिलती थीं, खासकर इसलिए क्योंकि टिकिट बहुत महँगे होते थे। पर विनुता और मैं "महात्मा वर्सेस गाँधी" नाटक देखने का मोह नहीं छोड़ पाए, जो फिरोज़ खान द्वारा निर्देशित किया गया था। हमारे चहेते सितारे नसीरुद्दीन शाह गाँधी के किरदार में थे तथा के.के. मेनन हरिलाल (गाँधी के पुत्र) बने थे। यह नाटक गाँधी और हरिलाल के रिश्ते, उनके दृष्टिकोणों, प्रतिवादों, मनःस्थितियों और उस आखिरी दरार को दर्शाता है जिसके परिणामस्वरूप बेटा शराबी हो जाता है। इन दोनों गाँधियों का, जो अपनी तरह से मज़बूत इच्छाशक्ति वाले और धुनी व्यक्ति थे, अभिनेताओं ने बहुत सुन्दर और संवेदनशील ढंग से चित्रण किया। नाटक की विशिष्टता यह थी कि आखिर में आपको दोनों चरित्रों के साथ सहानुभूति हो जाती है और इस प्रक्रिया में आप पिता-पुत्र के रिश्ते की जटिल प्रकृति को देख पाते हैं। मैंने चेन्नई के एक प्रगतिशील और जीवन्त रंगमंच समूह कूत्थुपट्टराई द्वारा प्रस्तुत किए गए दो तमिल नाटक भी देखे। इस समूह की विशेषता है कि यह लोक तत्वों को समकालीन रंगमंच से जोड़ता है।

मैंने रंगमंच और फिल्म – इन दो माध्यमों के बीच के अन्तरों को देखना भी शुरू किया। रंगमंच में आपकी शारीरिक उपस्थिति की स्वाभाविक

ऊर्जा तथा मंच पर अपने अभिनय द्वारा दर्शकों को अपने चरित्र और कहानी से बाँधे रखना पड़ता है। इसके लिए जहाँ एक ओर कुछ ज़्यादा ही "ऊँची आवाज़" में संवाद कहने की आवश्यकता पड़ती है, वहीं दूसरी ओर भावनाओं के चित्रण में इतनी निपुणता भी होना चाहिए कि सभागृह की आखिरी पंक्ति के कोने में बैठे व्यक्ति तक भी बात सीधी पहुँचे। इसके अतिरिक्त दर्शकों को आपके चरित्र के साथ "जोड़े रखने" के लिए मंच पर आपकी उपस्थिति का हर पल महत्वपूर्ण होता है।

फिल्मों में अभिनेता को दर्शकों से आमने-सामने जुड़ने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसकी बजाय कैमरा, निर्देशक और संपादक तय करते हैं कि दर्शकों का ध्यान किस चीज़ पर रखा जाए और किन भावनाओं को उभारा जाए। विविध प्रकार के तकनीकी घटक एक साथ मिलकर वह अनुभव रचते हैं जिसे हम सिनेमा कहते हैं।

"लाइट्स, कैमरा, एक्शन!"

मुझे इसके लिए बहुत ज़्यादा इन्तज़ार नहीं करना पड़ा। चेन्नई स्थित तारामणि फिल्म संस्थान के विद्यार्थियों को उनके पाठ्यक्रमों के तहत तीन मिनिट की फिल्म तैयार करना थी। संस्था की एक छात्रा को पता था कि मेरी अभिनय में रुचि है और उसने अपने दोस्तों को सुझाया कि इस परियोजना में मुझे भी शामिल किया जाए। फिल्म के निर्देशक ने एक दिन मुझे फोन किया और मुझसे स्क्रीन टेस्ट के लिए तैयार रहने को कहा। हम लोग इकट्ठे फिल्म संस्थान स्थित "मुगल गार्डन्स्" गए जहाँ मैंने पोस्टरों के लिए कुछ तस्वीरें खिंचवाईं। फिर वह बड़ा दिन आया। मेरे पास कोई संवाद नहीं थे, सिर्फ चेहरे के भाव थे। मैं एक मुगल राजकुमारी का किरदार निभा रही थी और मेरे तीन दृश्य फिल्माए जाने थे – सभी चेन्नई की दोपहर की धूप में। शूटिंग के अन्त में मैं पूरी तरह से कुम्हलाई दिख रही थी। पर हाँ, "लाइट्स, कैमरा, एक्शन" के साथ मेरा सामना हो गया।

इस सबके द्वारा मैंने यह पाया कि जो चीज़ मुझे वाकई पसन्द थी वह थी अभिनय, चाहे वह फिल्म के लिए हो या फिर रंगमंच के लिए। पर इन दोनों क्षेत्रों में ही मेरा अनुभव इतना सीमित रहा कि मैं अभिनय को कैरियर का विकल्प नहीं बना सकती थी। तथापि, किसी दिन अभिनेत्री बनने का सपना मैं अभी भी देखती हूँ।

# 3

# एक रंगबिरंगी प्रेमकथा

कभी-कभी, जो चीज़ें हम अनायास ही कर देते हैं वे हमें दूर तक ले जाती हैं। हो सकता है कि हम बिना किसी खास कारण या फिर सिर्फ क्षणिक रुचि के कारण कुछ करना शुरू कर दें। बुनाई के साथ मेरा रूमानी रिश्ता छुट-पुट प्रेम प्रसंगों की तरह शुरू हुआ था – मैंने नहीं सोचा था कि इसकी परिणति शादी में होगी! मुझे तो बस यह लगा कि सीखने के लिए यह कुछ रोचक चीज़ थी, और यह उतनी आम नहीं थी जितनी चित्रकारी, संगीत, नृत्य आदि थे। सुखद लगता था किसी का मेरे बारे में यह कहना कि, "आपको पता है, यह कपड़ा बुनती है..." और फिर सामने वाले को आश्चर्य से यह कहते सुनना, "बुनाई! वाह बहुत रोचक बात है।" बुनाई के साथ अपने प्रेम प्रसंग पर मुझे गर्व था, और लगभग ऐसा लगता था मानो कोई फिल्म सितारा मेरा प्रेमी हो!

मैंने स्कूल में बुनाई सीखना मुख्य रूप से इसलिए शुरू किया क्योंकि वहाँ यह सुविधा उपलब्ध थी, और यह आकर्षक प्रतीत होती थी। बुनाई विभाग की शिक्षा एक कमरे में होती थी। इसमें तीन बड़े करघे, दो छोटे करघे और करघों को चलाने के लिए ज़रूरी बाकी सभी सहायक साधन और सुविधाएँ थीं। बुनाई के उस्ताद थे 75 वर्षीय श्री शंकरन, जो मेरे गुरू बने।

हम मुख्य रूप से मोटा सूती कपड़ा बुनते थे जो तकिए के गिलाफ, बस्ते, बड़े रूमाल, तौलिए और पायदान बनाने के लिए उपयुक्त होता है। इनका बुनना युवा विद्यार्थियों को सीखने में और अध्यापक को सिखाने में आसान होता था। विद्यार्थी रोज़ एक घण्टा कक्षा में सीखते थे।

पहले वर्ष के बाद मैंने बुनाई को अपना प्राथमिक विषय चुनने का निर्णय

लिया। यह निर्णय मैंने सुमित्रा अक्का, मेरी माँ और स्कूल के कुछ अन्य शिक्षकों के साथ एक चर्चा करने के बाद लिया। कला, नृत्य, संगीत, ऑरीगैमी आदि विषय करने के बाद हमें महसूस हुआ कि मैं "पर्याप्त मज़ा" ले चुकी थी और अब मुझे एकाग्रचित्त होकर कुछ करना चाहिए। मैंने बुनाई और वस्त्रों को अपना प्राथमिक लक्ष्य चुनने के कारण दिए:

- यह एक सृजनात्मक गतिविधि थी जिसमें दिमाग के साथ-साथ हाथ भी शामिल होते हैं।
- इससे लोगों – इस मामले में बुनकर समुदाय – के साथ काम करने की मेरी दिली इच्छा की सन्तुष्टि होती थी।
- इससे भविष्य के लिए कई दूसरे रास्ते खुलते थे जैसे सृजनात्मक डिज़ाइन और विपणन।

कारणों की इस सूची से साफ था कि बुनाई अब कोई सांयोगिक प्रसंग नहीं रह गया था! सुमित्रा अक्का ने सुझाया कि मैं पीएचई के बाकी हिस्से में हथकरघे के कपड़ों के चार क्षेत्रों – बुनाई, रंगाई, वस्त्र डिज़ाइन और विपणन – पर काम करूँ।

जब मैंने वस्त्र बनाने को गम्भीरतापूर्वक अपनाने का निर्णय लिया, उसके बाद जिस पहले व्यक्ति से मैंने सम्पर्क किया वह थी उज़रम्मा। मुझे याद नहीं कि कैसे, कब और क्यों मैं उनसे पहली बार मिली थी। मेरा उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध तब शुरू हुआ जब मैंने दसवीं की अपनी परीक्षा के बाद हैदराबाद में तीन हफ्तों के लिए उनसे आभूषण डिज़ाइन करना सीखा। जल्द ही हथकरघों की इस रोमांचक यात्रा में वे मेरी प्रमुख मार्गदर्शक बन गईं और आज भी हैं।

उज़रम्मा "दस्तकार आन्ध्र" की पर्याय हैं, जो आन्ध्र प्रदेश के हथकरघा बुनकरों के बीच काम करने वाला एक गैर सरकारी संगठन है। सिकन्दराबाद की व्यस्त पार्क लेन में स्थित एक छोटे-से दफ्तर में कुछ ऐसे लोग हैं जो हथकरघा बुनकरों को लाभ पहुँचाने के तरीकों और उपायों पर लगातार काम करते रहते हैं। उन्होंने राज्य भर में हथकरघा बुनकरों का एक विस्तृत तंत्र बनाया है और ये लोग बुनकरों के उत्पादों का विपणन करते हैं, नई डिज़ाइनों और विपणन कलाओं से उनका परिचय कराते हैं, रंगाई, खासकर प्राकृतिक रंगाई, की कार्यशालाएँ संचालित करते हैं, इत्यादि।



जब मैंने पहली बार उज़रम्मा को अपने इरादों के बारे में लिखा, उन्होंने अपनी सुन्दर लिखावट में यह समझाते हुए तुरन्त जवाब दिया कि इस राह को चुनने पर मैं क्या कर सकती थी। उन्होंने सुझाया कि अपने तकनीकी कौशल पर काम करने के लिए मैं सीधे तौर पर किसी बुनकर से सीखने के अलावा बुनकर सेवा केन्द्रों और दूसरे टैक्सटाइल संस्थानों में सुलभ प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के तहत बुनाई, रंगाई और डिज़ाइन का प्रशिक्षण ले सकती थी। उन्होंने मुझे डॉ. आरती कालरा – चेन्नई में निवास करने वाली एक समाजशास्त्री – से सम्पर्क करने को कहा ताकि वे चेन्नई और उसके आसपास के बुनकर समुदायों से मेरी भेंट करवाने की व्यवस्था कर दें। डॉ. कालरा ने कांचीपुरम बुनकरों पर अपना शोध किया था और हथकरघा उद्योग के बारे में उनकी बहुत रोचक और पैनी समझ थी। मुझे एक और दिलचस्प सुझाव दिया गया कि मैं चेन्नई स्थित बुनकर बिरादरी, सैदापेट में या फिर स्कूल में ही अपना खुद का करघा लगाने और चलाने की सम्भावना को टटोलूँ।

मैंने डॉ. कालरा से मिलकर एक अस्थाई योजना बनाई। उन्होंने सुझाया कि मैं चार बुनकर बिरादरियों के साथ इन जगहों में समय बिता सकती थी – रेशम की बुनाई के लिए कांचीपुरम या स्वामीमलाई; लुंगी और थानों के लिए सैदापेट; खादी की बुनाई के लिए आन्ध्र में पोण्डूर तथा बारीक सूती धोतियों के लिए सेलम में अत्तनूर। "बुनाई ऐसे सीखो कि जैसे यही तुम्हारा कैरियर होने वाला है," उन्होंने मुझसे कहा। "और सिर्फ सीखना ही पर्याप्त नहीं है, तुम्हें उस बिरादरी के प्रति कुछ योगदान भी कर सकना चाहिए!" हमने मेरे पीएचई करने के बाद टैक्सटाइल में कैरियर को लेकर विभिन्न विकल्पों की चर्चा भी की:

- पुस्तक-आधारित पाठ्यक्रम और मानवविज्ञान तथा समाजशास्त्र में शोध;
- एनआईडी या एनआईएफटी से डिज़ाइन में डिप्लोमा;
- सौन्दर्योन्मुख पाठ्यक्रम जैसे ललित कलाएँ;
- कोई प्रौद्योगिक पाठ्यक्रम जैसे टैक्सटाइल में बीटैक;
- एक स्वतंत्र दस्तकार संघ चलाना और इस प्रकार स्वरोज़गार प्राप्त करना।

हालाँकि ऐसा लगा कि सब बढ़िया चल रहा था, फिर भी मुझे कहना होगा कि मैं काफी व्याकुल थी। मेरे आस-पास के लोग मुझसे भारी अपेक्षाएँ रखते थे, बिना यह समझे कि एक विषय और व्यावसायिक विकल्प के तौर पर बुनाई सीखने का क्या मतलब था। "क्या तुम साड़ियाँ बुन सकती हो?" "क्या तुम अपना बुनकर संघ चलाने वाली हो?" "वाह! तो तुम खुद डिज़ाइन किए हुए और बुने हुए वस्त्र पहनोगी!" रोमांचित होने की बजाय मैं यह सोचकर बहुत परेशान रहने लगी कि क्या मैं दूसरों की उम्मीदों पर खरी उतरूँगी। मुझे मन में करघे की लय याद आती रहती थी। "क्या मैं कभी ये सभी चीज़ें कर पाऊँगी – साड़ियाँ डिज़ाइन करना और बुनना और बाकी सब करना? अगर मैं नहीं कर सकी तो?"

मैंने उज़रम्मा को फिर से लिखा और डॉ. कालरा के साथ अपनी चर्चाओं तथा अपनी चिन्ताओं के बारे में बताया। उज़रम्मा ने त्वरित जवाब भेजा, "बस सीखो, चिन्ता मत करो। कैरियर के बारे में निर्णय बाद में लिया जा सकता है।" उन्होंने मुझमें और मेरे अपनाए रास्ते पर बहुत भरोसा भी जताया। "न तो तुम, न ही शिक्षा का तुम्हारा तरीका असफल हो सकते हैं। तुम निश्चित ही सम्माननीय आजीविका अर्जित कर पाओगी, और तुम्हारा काम निश्चित रूप से समाज और हथकरघा बुनकर को लाभ पहुँचाएगा...। यदि तुम कुछ चीज़ों के कारण बोझिल महसूस कर रही हो, तो यह हमारी असफलता है, तुम्हारी नहीं।" उस पत्र में इतनी सकारात्मक ऊर्जा थी कि मैंने बुनकरी और टैक्सटाइल की आकर्षक दुनिया में उत्साहपूर्वक कदम रखा!

## शंकरन अन्ना

पचहत्तर वर्षीय शंकरन अन्ना निश्चित ही मेरे लिए "अन्ना (भाई)" जैसे नहीं थे, पर यह स्कूल में पुरुष शिक्षकों को सम्बोधित करने का आम तरीका था। हालाँकि शुरू में मुझे अपने दादाजी की उम्र के किसी व्यक्ति को "अन्ना" बुलाते हुए अजीब लगता था, पर मुझे जल्द ही इसकी आदत पड़ गई। इससे भी ज़्यादा मज़ेदार होता था उन्हें दूसरी शिक्षिकाओं को "अक्का" कहते सुनना।

शंकरन अन्ना के बारे में सबसे प्रेरणादाई बात थी उनका स्वभाव। वे विनम्रता की प्रतिमा थे। जिस तरह से वे शिक्षकों और विद्यार्थियों से

शंकरन अन्ना

रूबरू होते थे – हमेशा खुद को नगण्य समझते हुए – वह सराहनीय था। चाहे सामने वाला पाँच साल का हो या पचास साल का, वे बेहद विनम्रता से बात करते थे और दूसरे व्यक्ति को महत्वपूर्ण होने का एहसास दिलाते थे। हालाँकि उन्हें रोज़ सिर्फ एक घण्टा ही पढ़ाना होता था, पर वे किसी भी अन्य व्यक्ति की तरह सुबह ठीक साढ़े नौ बजे स्कूल पहुँच जाते थे। वे हमेशा अपने साथ एक कत्थई रंग का बैग रखते थे और उसे उसके हैण्डल द्वारा एक हाथ में लटकाए रहते थे। दूसरे हाथ में एक काला छाता होता था जो उनकी चलने की छड़ी की तरह भी काम आता था (हालाँकि उन्हें इसकी ज़रूरत नहीं थी) और धूप तथा बारिश से बचाव भी करता था।

"लोग बुनाई को समझते नहीं हैं, कुळण्दई ("बेटा" – वे हमेशा मुझे इसी तरह सम्बोधित करते थे)। आपको शाम की उस एक घण्टे की कक्षा के लिए पूरी सुबह और दोपहर काम करना पड़ता है ताकि सभी करघे ठीक तरह से काम करें। और शाम को क्या होता है? विद्यार्थी आते हैं; वे "थड़क-थड़क" करके करघे पर काम करते हैं, सारा सूत तोड़ डालते हैं और हमें फिर शुरू से सब करना पड़ता है। बच्चे तो बच्चे ही रहेंगे... हा! हा!" वे हँस देते।

मुझे हमेशा लगता था कि वे विद्यार्थियों के प्रति कुछ ज़्यादा ही उदार रहते थे और मैं अक्सर उनसे दुखी होकर कहती कि विद्यार्थी उनकी अच्छाई का फायदा उठा रहे हैं। पर वे मेरी शिकायतों को दरकिनार कर देते। "नलल कुळन्दईम्मा अदु। अप्पाडि सोललादेमा... (वह अच्छी बच्ची है, वह लड़की। ऐसा मत कहो।)" सबसे ज़्यादा मज़ा तब आता था जब वे सत्र के अन्त में विद्यार्थियों के प्रदर्शन की मूल्यांकन रिपोर्ट तैयार करते। प्रत्येक छात्र के बारे में एक या दो वाक्य अँग्रेज़ी में लिखने के लिए मुझे उनकी सहायता करना पड़ती थी।

"सुदीप्ति," मैं रजिस्टर में से नाम पढ़ती और फिर उस विद्यार्थी के बारे में उनकी टिप्पणी का इन्तज़ार करती ताकि उसका अँग्रेज़ी में अनुवाद किया जा सके।

"सुदीप्ति? ओह, वह लम्बी चोटी वाली लड़की। वह तो बहुत अच्छी लड़की है। बहुत अच्छी, बहुत अच्छी...उसने सब कुछ सीख लिया है। उसे 'ए' दे दो। हाँ 'ए'।"

"भरत?"

"हाँ, हाँ! बहुत अच्छा लड़का है। बातें बहुत करता है पर काम भी अच्छा करता है।"

"पर मैं हमेशा उसे कक्षा में देर से आता देखती हूँ," मैंने बीच में टोका।

"नहीं, नहीं... पर वह अच्छा काम करता है। निश्चित रूप से हमें उसे 'ए' ही देना चाहिए।"

और इसी तरह चलता रहता – चाहे वह स्वाति हो, सुलग्ना हो, विशाल या फिर विनोद, वे कभी किसी के लिए कठोर शब्द इस्तेमाल नहीं करते थे, न ही उन्हें किसी से शिकायत होती थी। वे सबको "ए" देते थे, सिर्फ कभी-कभार "बी" दिया करते थे। अन्ना की कक्षाओं में कोई अनुत्तीर्ण नहीं होता था।

बुनाई और कताई के अलावा शंकरन अन्ना ने मुझे करघा स्थापित करने के सभी चरणों में प्रशिक्षित किया। जल्द ही हर प्रक्रिया में मैं उनकी सहायता करने लगी। निश्चित ही मैं कोई विशेषज्ञ नहीं थी, बल्कि मैं उनकी तुलना में बहुत धीरे काम कर पाती थी, पर वे मेरे साथ बराबर के साझेदार की तरह बर्ताव करते थे और हमेशा मुझे प्रोत्साहित करते रहते थे।

बुनाई एक रोचक प्रक्रिया है। यह मनुष्य द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली सबसे बुनियादी ज़रूरतों में से एक का निर्माण करती है। कोई भी कपड़ा धागों के दो समूहों के आपस में गुँथने से बनता है – खड़ा धागा जिसे ताना कहते हैं और आड़ा धागा जिसे बाना कहते हैं। ताना करघे पर चढ़ा हुआ होता है और बाना लकड़ी के अण्डाकार केस द्वारा, जिसे शटल



कहते हैं, ताने में गूँथा जाता है। इस प्रकार, ताने और बाने से "साथ-साथ, एक बार में एक कदम" चलते हुए नृत्य-सा करवाया जाता है जिससे यह बुना हुआ करिश्मा – कपड़ा – पैदा होता है।

कभी-कभी हमें ताने को चढ़ाने के लिए एक और बुनकर की मदद लेनी पड़ती थी, और हम तीन लोग मिलकर यह काम करते थे। हर बार अन्ना धैर्यपूर्वक मुझे हर चीज़ सिखाते थे और देखते थे कि मैंने वह काम सीख लिया है कि नहीं। दूसरा बुनकर ज़रूर यह सोचता होगा कि वे मुझे ज़रूरत से ज़्यादा ही महत्व दे रहे थे।

दिन गुज़रने के साथ, अन्ना की आँखें कमज़ोर हो गईं। अभी भी वे सब कुछ खुद कर सकते थे पर इसमें उन्हें ज़्यादा समय, ऊर्जा और प्रयास लगता था। और उन्हें खुद सब करने की ज़रूरत भी क्या थी, जब मैं वहाँ थी ही? मुझे उनके साथ रहना और उनकी सहायता करना हमेशा बहुत अच्छा लगता था। हम दुनियाभर की – राजनीति, धर्म, बुनकरों – सबकी चर्चा करते और वे अक्सर कुछ ईसाई गाने गाते। कभी-कभी पूरे दिन की मेहनत के बाद किसी गलती पर हमारा ध्यान जाता और हमें फिर सब शुरू से करना पड़ता। कभी-कभी किसी बेवकूफी भरे कारण की वजह से कपड़े के किसी एक तरफ का ताना टूटता रहता; या कभी शटल अलग हो जाती और फर्श पर गिर जाती। मैं बहुत परेशान हो जाती और गुस्से में करघे से उठकर कमरा छोड़कर चली जाती। पर कुछ ही मिनिटों में वापस आकर मैं पाती कि अन्ना कुछ गुनगुनाते हुए क्षतिग्रस्त तानों को एक-एक करके सुधार रहे होते थे। वे मुस्कान के साथ मेरा पुनः स्वागत करते, "आओ, आओ, मेरी बच्ची... बुनाई इसी तरह होती है। आप शुरू में झुँझला जाते हैं। पर समय के साथ आप इस झुँझलाहट पर काबू पा लेते हैं।"

**गलती कौन नहीं करता?**

धैर्य! सबसे बड़ा गुण, जो एक बुनकर प्राप्त करता है, वह है धैर्य। अन्यथा किसी बुनकर का काम नहीं चल सकता।

मैं बहुत गलतियाँ किया करती थी, कभी-कभी भारी गलतियाँ भी, पर वे बस इतना कहते, "गलतियाँ कौन नहीं करता है? चिन्ता मत करो मेरी बच्ची।" यदि मुझे छुट्टी वाले दिनों में आना पड़ता या फिर रोज़ाना के मुकाबले थोड़ा जल्दी आना पड़ता, तो वे हमेशा स्कूल आते समय रास्ते में बेकरी से मेरा पसन्दीदा स्पंज केक और कोई मसालेदार चीज़ साथ ले आते। मुझे यकीन है कि मैं उनकी सर्वाधिक दुलारी विद्यार्थी थी!

हम मिलकर दूसरी जगहों पर भी करघे स्थापित करने जाते थे। ऐसे ही एक मौके पर हम पम्मल, चेन्नई स्थित मानसिक रूप से अक्षम लोगों के एक आश्रम में गए। अन्ना वहाँ रहने वालों से, जिनकी उम्र आठ से पैंतालीस साल के बीच थी, सहजता से घुल-मिल गए। अन्ना इतने स्नेही थे कि वे सभी को तुरन्त भा गए। आश्रम के "प्रभु देवा" ने अपने दोस्तों की ज़ोरदार हौसलाअफज़ाई के बीच उस समय लोकप्रिय हुए एक तमिल गाने पर थिरककर हमारा भरपूर मनोरंजन किया!

शंकरन अन्ना जाति से बुनकर नहीं थे। वे एक किसान परिवार में जन्मे थे। वे एक बुनकर परिवार की लड़की से शादी करना चाहते थे। उनके ससुर ने यह शर्त रखी कि वे उनकी लड़की से तभी शादी कर सकते हैं जब वे बुनकरी सीख लें! तो यह उनकी पत्नी के प्यार से बुनी शादी थी। तब से उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। उन्होंने विभिन्न सरकारी ओहदों पर नौकरी की और अन्त में, अठारह साल पहले सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्ति के बाद शिक्षक की तरह स्कूल से जुड़े। उन्हें बुनकर समुदाय से बहुत सहानुभूति थी और वे खुद को उन्हीं में से एक मानते थे। कभी-कभी वे निराशा से कहते, "यह उचित नहीं है; बुनकर हमेशा गरीब रहा है, पर उसने अपनी गरिमा बनाए रखी है। आज किसी को बुनकर में दिलचस्पी नहीं है। किसी को भी नहीं।" और फिर, मेरा उदास भाव देखकर वे मुस्कुराकर कहते, "तुम्हें एक अधिकारी बनकर उनकी मदद करना चाहिए।"

शंकरन अन्ना कताई में भी विशेषज्ञ थे। उन्हें इसके लिए खादी आन्दोलन के दौरान आयोजित एक सामुदायिक कताई प्रतियोगिता में स्वयं महात्मा



गाँधी से पुरस्कार मिला था। मैं तकली और बक्से वाले चरखे से पहली बार 1995 की गर्मियों में परिचित हुई जब पेट्रिऑटिक एंड पीपुल ओरियेंटेड साइंस एंड टेक्नॉलॉजी (पीपीएसटी) फाउण्डेशन, चेन्नई के श्री एल. कन्नन हमारे गाँव आए। प्रत्येक ग्रीष्मकाल में जब गाँव में आम का समय होता तब भारत के अलग-अलग हिस्सों से दोस्त और रिश्तेदार हमारे साथ कुछ दिन बिताने गाँव आते थे। "यह आसान है... यह ऐसे चलता है," चरखा चलाते हुए उन्होंने समझाया और हम उन्हें आश्चर्यचकित होकर एक सूती पूनी से धागा निकालते हुए देखते रहे। यह बिलकुल जादुई था! मेरे पिता सीधे तनकर बैठ गए और उन्होंने बहुत गम्भीरतापूर्वक उत्साह से घोषणा की, "अब से मैं रोज़ अपना सूत खुद कातूँगा और उसी से कपड़ा बुनवाऊँगा।" श्री कन्नन के जाने के बाद जल्दी ही हमने एक बक्से वाला चरखा और तकलियाँ खरीदीं और मैं अभ्यास बनाए रखने के लिए छुट्टियों के दौरान यदा-कदा सूत कातती थी। मेरे पिता ने भी सूत कातने की कोशिश की पर जल्दी ही उन्होंने यह कोशिश छोड़ दी।

बक्से वाला चरखा एक हल्के बक्से में रहता है जिसे अटैची की तरह इधर-उधर ले जाया जा सकता है। किसान-चरखा भी ठीक ऐसा ही होता है पर उसमें बक्सा नहीं होता। कहते हैं कि जेल में अपने प्रवास के दौरान गाँधीजी ने खासतौर पर इसे किसानों के लिए बनाया था, इसलिए इसका यह नाम पड़ा।

मैंने अन्ना के मार्गदर्शन में फिर से सूत कातना शुरू किया। नियमित रूप से कताई करने के कारण मैंने काफी हद तक अपने हुनर को निखार लिया और ऐसा धागा बनाने लगी जो एक-सा और महीन होता था। कता हुआ धागा कभी-कभी रूमाल बुनने के लिए बाने की तरह इस्तेमाल होता था।

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, चेन्नई आमतौर पर अपने वार्षिक सारंग सांस्कृतिक समारोह के अन्तर्गत बुनाई और कताई की कार्यशाला आयोजित करने के लिए हमारे "द स्कूल" को आमंत्रित करता था। हमारे दल में अन्ना, उनका एक पोता और मैं होती थी। मैं आमतौर पर कताई करती थी और अन्ना और उनका पोता बुनाई का काम करते थे।

युवा छात्रों, पालकों और प्राध्यापकों को कताई सिखाना बहुत बढ़िया अनुभव था। जिस अचरज से लोग मुझे सूत कातते देखते थे उससे बहुत

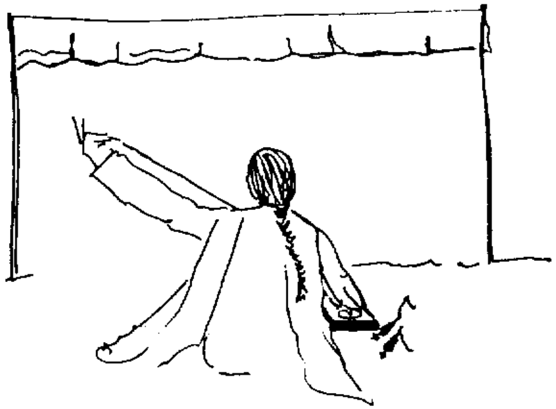

आई आई टी में कताई सिखाना

खुशी होती थी। मैं उन्हें एक-एक करके पास बिठाती, उनके हाथ पकड़कर चरखा चलवाती और उन्हें कताई के दौरान तालमेल और एकाग्रता का महत्व समझाने की कोशिश करती। जब आप इन दो गतिविधियों – चरखे को घुमाना और कपास में से धागा निकालना – में दक्षता हासिल कर लेते हैं तो समझिए बात बन गई! मैं शिक्षक की अपनी भूमिका में इतनी तल्लीन रहती थी कि जब राजी आंटी ने अपनी आँखों में शरारती चमक लिए हुए मुझसे पूछा, "क्या तुम्हारे कोई बॉयफ्रेण्ड बने?" मैंने शर्मिन्दगी में लगभग अपनी जीभ ही काट ली!

"नहीं, आंटी," मैंने जवाब दिया। मैं उन्हें कैसे बता सकती थी कि मैं तो लोगों के मन में कताई और बुनाई के प्रति सराहना पैदा करने में ही इतनी तल्लीन रहती कि यह विचार तक मेरे मन में नहीं आया। न जाने उन सभी छात्रों ने इस मुलाकात के बारे में क्या सोचा होगा?

आईआईटी में तीन दिन की इस कार्यशाला को संचालित करने के लिए अन्ना को मामूली पारिश्रमिक मिला करता था। इस बार उन्होंने ज़ोर दिया कि वे इसे हम तीनों में बराबरी से बाँटेंगे। मैंने इसका विरोध किया। कई दिन तक मुझसे यह कहते रहने के बाद कि उन्हें किसी दूसरे का पैसा रखते हुए ग्लानि हो रही है, अन्ना ने मुझे उपहार के तौर पर एक हाथघड़ी खरीदकर दी। सात साल बाद मैं आज भी उसे रोज़ पहनती हूँ क्योंकि वह मुझे उस खूबसूरत समय की याद दिलाती है जो मैंने अन्ना की स्नेह भरी सोहबत में बिताए।



## टैक्सटाइल यात्राएँ

स्कूल में बुनाई करने के अलावा मैं चेन्नई और उसके आसपास की कुछ बुनकर बिरादरियों में भी गई जैसे सैदापेट, अनकापुत्तूर, पम्मल और कांचीपुरम। इनमें से कई जगहों की मेरी पहली यात्रा के दौरान शंकरन अन्ना मेरे साथ गए। आरती अक्का मेरे साथ कांचीपुरम गईं। मैंने पाया कि हर क्षेत्र की अपनी खास विशेषताएँ हैं – जिस तरह की चीज़ें वे बुनते हैं, जिस तरह उनका समुदाय संगठित है, जैसा उनका आर्थिक दर्जा है, इत्यादि।

सैदापेट हथकरघे से बनी लुंगियों और रूमालों का एक प्रमुख केन्द्र था। यहाँ के बुनकर रियल मद्रास हैंड करचिफ (आरएमएचके) बुना करते थे जो 400 से ज़्यादा सालों से अरब और अफ्रीकी देशों को निर्यात किया जाने वाला एक प्रसिद्ध और प्रचलित उत्पाद था।

जब मैं अप्रैल, 1997 के आसपास पहली बार उस बिरादरी में गई, तो वहाँ लगभग 12 करघे चालू थे। हम उन परिवारों में भी गए, जो करघे पर बुनाई के पहले या उसके बाद होने वाले कामों में लगे थे या फिर करघे से जुड़े सहायक साधन बनाते थे। शंकरन अन्ना ने मुझे बुनकर समुदाय के भीतर होने वाले कार्यों की विभिन्न प्रक्रियाओं और चरणों के बारे में समझाया। हालाँकि वे व्यक्तिगत तौर पर उनमें से किसी को नहीं जानते थे, फिर भी वे हमेशा की तरह अपने स्वाभाविक मिलनसार अन्दाज़ में मेरा परिचय कराते थे, "इसे बुनाई बहुत पसन्द है और मुझसे सीख रही है। यह देखना चाहती थी कि आप यह कैसे करते हैं.....।"

उज़रम्मा के सुझाव के अनुसार मैंने सैदापेट में एक करघा किराए पर लेने और वहाँ के बुनकर समुदाय से सीखने की सम्भावना पर सोचना शुरू कर दिया। सैदापेट आदर्श स्थान प्रतीत होता था क्योंकि जहाँ मैं रहती थी वह उसके बहुत पास था और मैं बस से रोज़ आसानी से आ-जा सकती थी। आह! बस मुझे कोई सिखाने वाला मिल जाता...।

जब मैं छह महीने बाद सैदापेट गई, वहाँ बमुश्किल दो करघे बचे थे जो काम कर रहे थे! बुनकर बिरादरी को अपनी आँखों के सामने बिखरते देखना बहुत तकलीफदेह था। अतः मुझे वहाँ बुनाई करने की अपनी योजनाओं को विराम देना पड़ा क्योंकि जो थोड़े से बुनकर वहाँ अभी भी

रह गए थे, वे खुद ही बड़ी दयनीय और हताश दशा में थे तथा मुझ सरीखे किसी व्यक्ति को सिखाने के प्रति बहुत उत्साहित नहीं थे।

इस उद्योग के ढह जाने के पीछे मुख्यतः घरेलू और निर्यात – दोनों ही बाज़ारों में बिजली के करघों से बनी लुंगियों का हमला था। एक बुनकर ने शिकायत भी की कि बिजली के करघे से बने सामानों के कुछ निर्यातकों ने बेशर्मी से अपने उत्पादों पर "हथकरघा निर्मित" की मुहर लगा दी और वही बताकर उन्हें बेचा। दूसरा प्रमुख कारण था ऐसे सहयोगी उद्योगों - रंगाई, वार्पिंग (बुनाई के लिए ताना तैयार करने की प्रक्रिया), धुनकी बनाना (करघे का एक अंग) इत्यादि – का विलुप्त हो जाना, जो किसी बुनकर परिवार के ठीक से काम कर पाने के लिए बेहद ज़रूरी हैं। ऐसे में बुनकर लोग कब तक बच सकते थे जब उन्हें हर छोटे से काम के लिए भागकर अनकापुत्तूर जाना पड़ता था?

अनकापुत्तूर (चेन्नई में ही स्थित) के बुनकर जैकार्ड और डॉबी का इस्तेमाल करते हुए साड़ियाँ (सूती, पॉली-सूती और कभी-कभी रेशमी) और वस्त्रों के लिए कपड़ा बुनते हैं। जब मैं एक बुनकर के घर गई तो मुझे बड़ा भावात्मक अनुभव हुआ। वह एक कमरे की झोंपड़ी थी। जब शंकरन अन्ना तथा मैं अन्दर घुसे तो उस वक्त झोंपड़ी धुएँ से भरी थी। एक कोने में करघा रखा था। अन्दर काफी अँधेरा था। हमारे प्रबल विरोध के बावजूद उस बुनकर ने तुरन्त अपने एक लड़के को हम लोगों के लिए शीतल पेय खरीदने भेजा। घर के बाहर बैठी उनकी बिलकुल ही कृशकाय पत्नी एक बुनकर उस्ताद के लिए तानों के एक नए समूह को उमेठ रहीं थीं। उनकी उम्र तीस से कम ही रही होगी। पर इस उम्र में ही वे मोटा चश्मा लगाए हुए थीं जिसका कारण थीं वे भयावह परिस्थितियाँ जिनमें उनके व्यवसाय ने उन्हें ढकेला था। उस झुकी हुई मुद्रा में 6-8 घण्टे तक बैठे रहने और लगभग दो दिनों तक ताना उमेठने के श्रम के लिए उन्हें केवल पन्द्रह रुपए मिलते थे!

इन बुनकर लोगों का बर्ताव बहुत ही मित्रवत् था और हमारी आपस में तुरन्त इसलिए भी बनी क्योंकि वे भी तेलुगु बोलते थे। हम प्रफुल्लित होकर बातें करने लगे, शंकरन अन्ना को पूरी तरह अनदेखा कर! जब हम निकलने लगे, तो बुनकर ने पटिए पर से पॉलीकॉट के थान का एक मीटर का टुकड़ा निकाला जो शायद उन्होंने अपने परिवार के लिए

**"इसे हमारी यादगार की तरह रखिए"**

बचाकर रखा था। वह उन्होंने मुझे दे दिया। "इसे हमारी यादगार की तरह रखिए," वे बोले। मैं उस टुकड़े के लिए उन्हें पैसे देना चाहती थी पर ऐसी स्थितियों में यह निर्णय करना सचमुच मुश्किल हो जाता है कि पैसे देने की बात भी करना ठीक होगा कि नहीं। ऐसे में यह ध्यान रखना होता है कि सामने वाले की भावनाओं को ठेस न पहुँचे। हिचकते हुए, मैंने उन्हें कुछ रुपए देना चाहा, पर उन्होंने घबराकर इन्कार में अपना सिर हिलाया, "नहीं, नहीं! बिलकुल नहीं। यह आपको हमारी भेंट है।" इतना कहकर, उन्होंने हमसे अलविदा कहा और फुर्ती से अपनी बुनाई में जुट गए।

कांचीपुरम में बिलकुल अलग तरह की बिरादरी है। यहाँ कुछ परिवारों के समूह किन्हीं खास-खास कामों में विशेषज्ञता रखते हैं – जैसे रंगाई, डिज़ाइन, विपणन या बुनाई। श्रम का यह विभाजन मन्दिरों के इस प्रसिद्ध शहर के उद्योग का बहुत खास लक्षण है।

कई सालों से कांचीपुरम उद्योग ने उच्च स्तर की रेशमी साड़ियों के लिए नाम कमाया है। उनकी खूबसूरत डिज़ाइनें चटक और विपरीत रंगों में बुनी जाती हैं। मुख्य आकृतियाँ अधिकांश रूप से मन्दिरों और उनकी आसपास की चीज़ों से ली जाती हैं – जैसे गोपुरम (मन्दिर का शिखर), हंस, मंगा (आम) और रुद्राक्ष (जापमाला बनाने में इस्तेमाल होने वाला एक

बीज)। अब वे सभी प्रकार की डिज़ाइनें बुनते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उनकी प्रमुख पारम्परिक आकृतियाँ पुरानी पड़ गई हैं। मैंने शान से प्रदर्शित एक ज़री वाला रेशमी शॉल देखा जिस पर बहुचर्चित तमिल अभिनेता शिवाजी गणेशन का चित्र बुना हुआ था।

सन् 1998 की गर्मियों में मेरी माँ, मेरी बहन और मैं हमारे पारिवारिक मित्र श्री रमन्ना से मिलने गए जो कोयम्बत्तूर के पास स्थित गाँव गणपतिपालयम में रहते थे। मेरी माँ ने सुझाव दिया कि हम कोयम्बत्तूर, जिसे दक्षिण भारत का मैनचेस्टर कहा जाता है, की कुछ टैक्सटाइल इकाइयों में जाएँ। रमन्ना गारू, जिनकी उम्र सत्तर पार थी, इस उद्योग के लोगों को जानते थे और वे हमारे साथ चलने को राज़ी हो गए। यह एक औद्योगिक टैक्सटाइल इकाई की मेरी पहली यात्रा थी।

हमने विशाल पैमाने पर कपड़े को ब्लीच (रंगहीन) करने और रंगने का काम होते देखा। साथ ही कम्प्यूटर द्वारा संचालित जैकार्ड करघा भी देखा जिसमें आपको डिज़ाइन को सॉफ्टवेयर में डालना पड़ता था, उसके विवरण टाइप करना पड़ते थे और करघा उसे आपके लिए बुन देता था! "अरे, वाह!" मैंने सोचा और मुझे उन हथकरघा बुनकरों की याद आई जो अपनी कृतियाँ रचने के लिए करघे पर कड़ी मेहनत करते हैं। यह देखना बहुत आश्चर्यचकित करने वाला था कि कैसे समय के साथ उन सभी कार्यों को करने के लिए मशीनों को विकसित किया गया है जो पहले लोगों द्वारा किए जा रहे थे, वह भी पहले की अपेक्षा कहीं बड़े पैमाने पर। जब हम दहाड़ती, धड़धड़ाती और घूमती हुई भीमकाय मशीनों के पास से गुज़रे मैंने "मशीन बनाम आदमी" की बहस की जटिलता के बारे में सोचा। किस ओर जाना ठीक था?

दक्षिण के वस्त्रों के बाद मेरी यात्राएँ मुझे बनारस ले गईं जो भारत में ज़रीदार कपड़े की बुनाई का शिखर है। अक्तूबर 1998 में मैंने उत्तर प्रदेश के इस शहर में आयोजित तीसरे पारम्परिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी सम्मेलन में शिरकत की। यह सम्मेलन चेन्नई स्थित व्यावसायिकों और इंजीनियरों के एक समूह, "देशभक्त और लोकोन्मुख विज्ञान और प्रौद्योगिकी (Patriotic and People Oriented Science and Technology; पीपीएसटी) फाउण्डेशन" ने आयोजित किया था। पीपीएसटी एक शोध तथा क्रियान्वन समूह था जो पन्द्रह सालों से भी ज़्यादा समय से भारत के पारम्परिक



कारीगरों के ज्ञान और कौशल को बढ़ावा देने का काम कर रहा था। उनका लक्ष्य था ऐसी तकनीकों का विकास तथा प्रसार करना जो दुनिया को एक अधिक लोक-हितकारी, गाँधीवादी विकल्प दे सकती हैं और साथ ही इनसे जुड़े लोगों की स्थिति भी सुधार सकती हैं। यह सम्मेलन ऐसा मंच है जहाँ कई पारम्परिक शिल्पकार – वस्त्र, चमड़ा, धातुओं, लकड़ी, बाँस, पत्थर और मिट्टी पर काम करने वाले कारीगर – और उनके साथ काम करने वाले संगठन एक साथ इकट्ठा होते हैं और अपने हुनरों, अन्तर्दृष्टियों, सरोकारों तथा चुनौतियों को बाँटते हैं।

मैंने हथकरघा पर आयोजित कई सत्रों तथा अन्य रोचक कार्यशालाओं में शिरकत की। हथकरघा उद्योग के कई पक्ष मेरे लिए नए थे और मुझे कुछ अवधारणाओं और नामों को समझने में अक्सर दिक्कत होती थी। फिर भी मैं कार्यशालाओं में बताई जाने वाली बातों से ज़्यादा से ज़्यादा सीखना चाहती थी। देश के अलग-अलग हिस्सों से आए कई बुनकर इन सत्रों में हिस्सा ले रहे थे। इनमें से एक सत्र में मैंने भी बुनकरों के पास मिलने जाने, उनकी स्थिति और उस अन्याय को देखने के अपने अनुभवों को लोगों के साथ बाँटा। जब मैंने अपनी बात खत्म की तो मुझे बहुत आश्चर्य और संकोच हुआ क्योंकि सभी बुनकरों ने तालियाँ बजाईं और उनमें से एक ने भावुक होकर कहा, "यह लड़की हमारी ज़िन्दगियों को बहुत अच्छी तरह से समझती है।"

सम्मेलन में शिरकत करने वाले कई युवा कार्यकर्ताओं को एक "शहरी बुनकर" पाकर सुखद आश्चर्य हुआ। हममें से कुछ लोगों का समूह बनारस के पास स्थित एक गाँव सराय मोहना की एक बुनकर बिरादरी से मिलने गया जो ज़रीदार साड़ियाँ बुनते थे। बुनकरों के अँधेरे व कम रोशनी वाले घरों में, वस्त्र कला के कुछ सबसे सुन्दर और भव्य नमूनों – ज़रीदार बनारसी कपड़ों – का निर्माण होता है। ऐसा लगता है कि जो रोशनी उनके घरों से गायब है वह उन भव्य, चमकदार और बारीक बुनावट वाले ज़रीदार कपड़ों से प्रगट होती है। मैंने तकनीकी पक्षों पर कुछ नोट्स बनाए और दूसरी चीज़ों के बारे में बुनकरों से बात की। यहाँ भी कहानी वही थी। इस उद्योग के पास फलता-फूलता बाज़ार था और कुछ ही पहले तक मुगल शासकों का संरक्षण भी प्राप्त था। चूँकि यह बीसवीं सदी में भी इतना जीवन्त उद्योग था कि सराय मोहना के

निवासियों ने, जो मुख्य रूप से मछुआरे थे, द्वितीय व्यवसाय की तरह बनारस के मुस्लिम बुनकरों से बुनकरी सीखी थी। आजकल न तो मछली पकड़ने से और न ही बुनकरी से उनकी ज़रूरतें पूरी हो रही थीं। "आजकल मछलियाँ कहाँ हैं? गंगा में बिलकुल मछलियाँ नहीं हैं," एक बुनकर-मछुआरे ने दुखी होते हुए कहा।

बनारस की पवित्र नगरी अपने-आप में एक अनुभव है। खूबसूरत गंगा, सँकरी गलियाँ और विभिन्न व्यवसायों का शोरगुल, अव्यवस्था, गन्दगी और नालियाँ, गंगा के ऊपर स्थित रेल पुल, घाट (नदी तक ले जाने वाली सीढ़ियाँ), काशी विश्वनाथ मन्दिर, किले, पुजारी और लोग, गायें और ऊँचे रिक्शे – इस शहर में ज़िन्दगी अपनी विविधता, सुन्दरता और सौम्यता लिए हुए गन्दगी, प्रदूषण और निष्ठुरता के साथ-साथ चलती प्रतीत होती है।

कार्तिक पूर्णिमा का उत्सव हमारी यात्रा की भव्य परिणति था। हम नाव में बैठकर नदी के भ्रमण पर निकले और वहाँ से हमने हज़ारों तेल के दीयों की रोशनी में जगमगाती घाटों की सीढ़ियों को देखा। मुख्य घाट पर गंगा पूजा और विभिन्न दूसरे सार्वजनिक उत्सव आयोजित किए जा रहे थे। लोग तेल के दीये जलाकर उन्हें गंगा में बहा रहे थे। ऊपर ताँबे जैसे लाल से सफेद रंग में बदलता हुआ पूरा चाँद जैसे इन सभी दीयों की रोशनी को प्रतिबिम्बित कर रहा था। नाव से ऐसा दिख रहा था जैसे नदी और आकाश एक-दूसरे में मिल गए हों -- एक अपने सुनहले दीयों को लिए हुए तो दूसरा अपने रूपहले दीयों को।

बुनकर बिरादरियों की मेरी यात्राओं ने बुनाई के कुछ तकनीकी पक्षों की जानकारी के अलावा मुझे उनकी सामाजिक और आर्थिक दशाओं की वस्तुस्थिति से भी व्यक्तिगत रूप से अवगत कराया। मैंने अपनी डायरी में लिखा, "मैंने हमेशा यह महसूस किया था कि मैं सिर्फ कपड़ा बुनना चाहती थी, बस बुनना, और अच्छी बुनकर बनना चाहती थी। पर बुनकरों का अद्‌भुत कौशल और उनकी दुर्दशा को देखकर मैं इस पर पुनर्विचार कर रही हूँ। शायद मैं बुनाई में उन जैसी अच्छी कभी न बन पाऊँ और यदि बन भी जाती हूँ तो भी मुझे आरामदेह जीवनयापन के लिए कुछ और करने की ज़रूरत पड़ सकती है। मुझे इस समुदाय के लिए कुछ तो करना ही चाहिए जिससे मैंने इतना कुछ सीखा है। पर क्या?"



## और परियोजनाएँ

इन बिरादरियों के भ्रमणों के चलते हथकरघा उद्योग के इतिहास के प्रति मेरी जिज्ञासा बढ़ी क्योंकि मुझे पता था कि आज के परिदृश्य को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। मैंने लेख पढ़ना शुरू किए और मुझे स्टैला मैरिस कॉलेज में डॉ. आरती कालरा द्वारा भारतीय वस्त्रों के इतिहास पर दिए गए सिलसिलेवार व्याख्यानों को सुनने का मौका मिला। उनके व्याख्यान रोचक थे और उनसे मुझे भारतीय वस्त्र उद्योग के विकास के बारे में गहरी समझ प्राप्त हुई। उन्होंने इस विकास को दूसरे आन्दोलनों, जैसे कला और शिल्प आन्दोलन तथा यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति से जोड़ा। इसके साथ ही इनमें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान बुनकर बिरादरियों की सामाजिक और आर्थिक दशाओं की तथा उन तरीकों की गहराई से चर्चा की गई जिनसे पता चलता है कि कैसे ब्रिटिश लोगों के व्यापार को आसान बनाने के लिए इस उद्योग को पुनर्गठित किया गया। मैंने स्वदेशी के बारे में जाना तथा विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, खादी आन्दोलन और आनन्द के. कुमारस्वामी के नेतृत्व में हुए सांस्कृतिक पुनर्जागरण का परिचय पाया।

मैं कई बार डॉ. कालरा के चेन्नई स्थित घर जाया करती थी और वे अपने कुछ शोधपत्र और सामग्री मेरे साथ बाँटती थीं। एक दिन हमने बहुत रोचक "दिखाओ और बताओ" का खेल खेला। वे एक विशाल पोटली ले आईं जो कुछ-कुछ धोबी की पोटली जैसी दिख रही थी। और वाह! वह तो खज़ानों से भरी हुई थी। उसमें भारत के अलग-अलग हिस्सों की कुछ बहुत सुन्दर पारम्परिक और समकालीन साड़ियाँ थीं जो उन्हें परिवार और दोस्तों से मिली थीं। उन्होंने कुछ साड़ियों की चारित्रिक विशेषताओं के बारे में समझाया और मुझे बुने हुए भारतीय कपड़ों की रंगबिरंगी और विविध दुनिया से परिचित कराया। यह अनुभव मेरी आँखों के लिए शानदार दावत-सा था और इसने मेरी आत्मा को इनके बारे में और अधिक जानने के लिए बेताब कर दिया।

पीपीएसटी फाउण्डेशन विकेन्द्रीकृत कताई मशीनों को विकसित करने की एक योजना पर काम कर रहा था। खेत से कताई कारखाने तक ले जाने के लिए कपास को ऊँचे दाब और तापक्रम पर ठोस गाँठों के रूप में संकुचित कर दिया जाता है। रोचक बात यह है कि कताई कारखाने

में कपास की ये गाँठें "खुलने" की उलटी प्रक्रिया से गुज़रती हैं ताकि फिर से अलग-अलग रेशे बन जाएँ जिनका इस्तेमाल धागा बनाने में किया जाता है। इससे कपास कमज़ोर हो जाती है और धागा महँगा हो जाता है। यदि किसी ग्राम-आधारित विकेन्द्रीकृत कताई कारखाने को ऐसे क्षेत्र में लगाया जा सके जहाँ कपास उगती हो, तो कातने वालों को बुनकरों के रूप में तैयार बाज़ार मिलेगा, और बदले में बुनकरों को भी स्थानीय कताई इकाइयों से उत्तम स्तर का धागा सीधे मिल सकेगा। इसके लिए आवश्यक मशीनों के पूरे सैट को विकसित करने में एक इंजीनियर श्री रामकृष्णन की बहुत अहम भूमिका रही है। जब मैं चेन्नई में उनके दफ्तर गई तो उन्होंने मुझे अपने छोटे कताई कारखाने में कताई होते दिखाई। साथ ही वे कच्चे कपास से धागा बनाने के काम से जुड़ी तमाम प्रक्रियाओं के बारे में समझाते भी रहे।

इसके बाद ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कताई और बुनाई तकनीकों के विकास के सम्बन्ध में मेरी उनके साथ बहुत रोचक और ज्ञानवर्धक बातचीत हुई। श्री रामकृष्णन मृदुभाषी व्यक्ति हैं और उन्होंने पूरी स्पष्टता से मेरे सभी सवालों के जवाब दिए। मुझे हमेशा यह सन्देह रहता था कि कौन-सा कपड़ा तकनीकी रूप से श्रेष्ठ है – कारखाने से बुना हुआ या हाथ से बुना हुआ; सिन्थेटिक कपड़ा हथकरघे से बुने कपड़े की तुलना में सस्ता क्योंकर होता है, इत्यादि। हमने विस्तार से चर्चा की कि क्यों हाल के सालों में विद्युत करघे का क्षेत्र हथकरघा क्षेत्र से आगे निकल गया था। रामकृष्णन ने यह भी समझाया कि सिन्थेटिक कपड़ों के व्यापार में आई तेज़ी तकनीकी परिवर्तनों का परिणाम थी। इसके अलावा उन्होंने हाथ से काते गए और फेंकने वाली शटल से बुने गए अच्छे कपड़े (जैसा पोण्डूर, आन्ध्र प्रदेश में बनाया जाता है) की तकनीकी श्रेष्ठता के बारे में बताया; विभिन्न अधिनियमों के बारे में बताया, जो हथकरघा क्षेत्र के लिए बने हुए थे पर जो कभी ठीक तरह से लागू नहीं किए गए; और औपनिवेशिक भारत में कताई और हथकरघा के क्षेत्र को रणनीतिक तौर पर विखण्डित करने में ब्रिटिश लोगों की भूमिका के बारे में भी बताया। पीपीएसटी के पुस्तकालय में इस विषय पर पढ़ने की सामग्री भी थी जो मैं घर ले आई।

हालाँकि खादी से मेरा कोई खास लगाव नहीं था, फिर भी मैंने गाँधी द्वारा



लिखा गया *खादी का अर्थशास्त्र* पढ़ना इसलिए शुरू किया ताकि मैं समझ सकूँ कि वे हाथ की कताई को भारत की आज़ादी हासिल करने का इतना शक्तिशाली औज़ार क्यों मानते थे। गाँधी के विचार स्फटिक जैसे साफ थे, उनकी रणनीतियाँ सरल थीं और अपेक्षित नतीजे तर्कसंगत। मैंने लगभग उसी समय *हिन्द स्वराज* भी पढ़ा। इन दोनों किताबों में गाँधी हमारी सभ्यता को स्पष्ट चेतावनियाँ देते हैं – कि केवल लाभ और भौतिक सम्पत्ति को सर्वोपरि लक्ष्य मानने वाले आधुनिकीकरण की भूख सर्वनाशी होगी; इस रास्ते पर चलने से भुखमरी और बढ़ेगी तथा अधिकांश लोग हाशिए पर धकेल दिए जाएँगे, इत्यादि। मैं यह सोचने पर मजबूर हो गई कि कैसे हमने अन्त में ठीक वही चीज़ें कर दी हैं जिनके खिलाफ उन्होंने हमें चेताया था। यह सही है कि गाँधी के कुछ विचार बहुत कठोर हैं और आसानी से ग्राह्य नहीं हैं, फिर भी उनकी बुनियादी सोच मुझे सच्ची और मौलिक लगी, सम्भवतः उसे हमारे समय के अनुरूप ढालने की ज़रूरत है। खासतौर पर यह देखकर कि जिस विनाश के बारे में उन्होंने आशंका जताई थी ठीक वैसी घटनाएँ मेरे आसपास घट ही रही थीं। मैं इस सोच में पड़ गई कि अगर हम गाँधी के रास्ते चले होते तो मंज़र कितना अलग होता।

तब तक बुनाई में मेरा तकनीकी हुनर स्कूल में सीखी हुई बातों तक ही सीमित था। मुझे चेन्नई के "बुनकर सेवा केन्द्र" (डब्ल्यू.एस.सी.) के बारे में मालूम हुआ जहाँ बुनाई, रंगाई और ब्लॉक छपाई में एक महीने का प्रशिक्षण मिलता है। बुनकर सेवा केन्द्र देश भर में स्थापित किए गए हैं ताकि सहकारी समितियों द्वारा भेजे गए बुनकरों को जटिल बुनाई, रंगाई और दूसरे ज़रूरी हुनरों में प्रशिक्षित किया जा सके। फरवरी, 1997 में मैंने बुनाई कार्यक्रम में अपना नाम दर्ज कराया। इस प्रशिक्षण में मैंने सामान्य और अलंकृत बुनावटों की एक पूरी शृंखला सीखी जिनका इस्तेमाल अलग-अलग प्रकार का कपड़ा बनाने में हो सकता है। मेरी एक वरिष्ठ बुनकर के साथ मित्रता हो गई जिसने मुझे जैकार्ड बुनाई की बुनियादी बातें सिखाईं और यह भी सिखाया कि हम पेपर पर बनी डिज़ाइनों को बुनी जा सकने योग्य मुख्य आकृतियों में कैसे बदल सकते हैं। यह जटिल था!

मुझे यह बात हमेशा मोहती थी कि बुनकर कैसे अपने कपड़े पर फूल-पत्तियों की डिज़ाइनें और बेल-बूटे बुनते हैं। शंकरन अन्ना इस प्रकार की

बुनाई से बहुत परिचित नहीं थे; और उन्होंने ही सुझाया था कि मैं बुनकर सेवा केन्द्र की मदद ले सकती हूँ। गौतम अन्ना से चर्चा करने के बाद मैं बुनकर सेवा केन्द्र गई और उप निदेशक से निवेदन किया कि वे स्कूल के बुनाई विभाग में कुछ सरल डिज़ाइनें स्थापित करने और बुनने में हमारी मदद करने के लिए अपने एक बुनकर को भेज दें। थोड़ी चर्चा के बाद वे मान गए, और जल्दी ही एक बुनकर आए। उन्होंने हमारे साथ चार दिन बिताए और मुझे व अन्ना को अड़ाई स्थापित करना सिखाया जो डिज़ाइनें बुनने में ताना उठाने के लिए इस्तेमाल होने वाली व्यवस्था है। हमने कपड़े के दोनों किनारों पर एक सामान्य रुद्राक्ष (एक गोलाकार आकृति जो जापमाला के मनकों जैसा दिखता है) की डिज़ाइन बुनने का निर्णय लिया। स्कूल ने सभी ज़रूरी अतिरिक्त साज़ो-सामान तथा बुनकर की सेवाओं का खर्च वहन किया। मैंने महसूस किया कि यह पूरी प्रक्रिया अकेले मेरे लिए करने के हिसाब से ज़रा ज़्यादा ही जटिल थी, पर इस अभ्यास ने मुझे इस प्रक्रिया में शामिल सभी चरणों को समझने में मदद की। ओह! मुझे कितनी खुशी हुई जब मैंने बुनाई करते समय पहला सुन्दर गोल रुद्राक्ष कपड़े पर उभरते देखा! बाद में मैंने गौतम अन्ना को उनकी दफ्तर की मेज़ के लिए रुद्राक्ष के किनारों वाला एक चटक मेज़पोश उपहार में दिया।

"यह भविष्य में उपयोगी हो सकता है" की भावना से प्रेरित हो मैंने जुलाई, 1999 में एनआईएफटी, चेन्नई में 15 दिन का कम्प्यूटर-आधारित डिज़ाइन पाठ्यक्रम पूरा किया जिसमें "फैशन स्टूडियो" सॉफ्टवेयर का इस्तेमाल किया गया था। कम्प्यूटर के साथ अपनी शुरुआती झिझक के बाद मैं उसका पूरी तरह से आनन्द लेने लगी। बस पूरे दिन कम्प्यूटर पर आँखें गड़ाए रखना बहुत अच्छा नहीं लगता था।

## चेन्नूर में मेरे दिन

जैसे-जैसे चेन्नई में मेरे तीन साल खत्म होने को आ रहे थे, मेरे लिए कुछ ज़मीनी अनुभव हासिल करने का समय आता जा रहा था। मैं किसी बुनकर बिरादरी के साथ काम करना चाहती थी। जो मेरे लिए अध्ययन का विषय था वह उन लोगों की ज़िन्दगियों का अभिन्न हिस्सा था। ऐसे पारम्परिक कारीगरों के साथ काम करने से मुझे सीखने का एक अलग वातावरण मिलता और मैं बुनकर समुदायों के परिप्रेक्ष्य को समझने में



समर्थ हो पाती। मैं खासतौर पर गड्ढे वाले करघे की बुनाई सीखना चाहती थी क्योंकि गड्ढे वाले करघे को पारम्परिक "मूल" करघा माना जाता है और यह भारत में सबसे अधिक उपयोग किए जाने वाले करघों में से एक है। मैंने इस सिलसिले में उज़रम्मा से मदद माँगी। कुछ सप्ताह बाद उज़रम्मा ने मुझे बताया कि मैं चेन्नूर में बुनकरों के साथ काम कर सकती हूँ जो आन्ध्र प्रदेश के आदिलाबाद ज़िले में स्थित छोटा-सा कस्बा है। वहाँ के बुनकरों के साथ दस्तकार आन्ध्र का लम्बे समय से सम्बन्ध था और उन्होंने मेरे वहाँ कुछ महीने काम करने की सम्भावना पर चर्चा की।

यह सब बहुत ही रोमांचक था – एक बिलकुल अलग समाज में नए लोगों के साथ रहने का यह पूरा विचार, गड्ढे वाला करघा स्थापित करना और ऐसा पर्याप्त महीन कपड़ा बनाना जिसे पोशाक के रूप में पहना जा सके! यह वाकई एक अनोखा मौका था क्योंकि किसी कारीगर बिरादरी के साथ इस तरह से सच में काम करना, उनके समय और ऊर्जा में से हिस्सा बँटाना, आमतौर पर सम्भव नहीं होता।

मैं 11 मार्च, 1999 को चेन्नूर गई। मुझे श्री सत्यनारायणगारू के घर में ठहराया गया जो बुनकरों के मोहल्ले से एक किलोमीटर दूर था। उसी शाम सत्यनारायणगारू की बेटी समता ने मुझे दो व्यक्तियों, ओधेलु और सत्तन्ना से मिलवाया। "ओधेलु तुम्हें सिखाएँगे," वह बोली।

मैंने उनकी तरफ देखा। वे तीस पार के कृशकाय युवक थे। मैं वास्तव में यह अपेक्षा कर रही थी कि कोई वृद्ध अवकाश-प्राप्त बुनकर मुझे सिखाने के लिए राज़ी हुए होंगे क्योंकि उनके पास शायद करने को और कुछ न हो। उज़रम्मा ने उन्हें मेरे आने के बारे में बता दिया था ताकि वे गड्ढे वाला करघा तैयार रखें। वे खुद यह देखने आए थे कि क्या "वह लड़की" वास्तव में आ गई है!

"करघा अभी तक लगा नहीं है। मैं करघे के लिए चीज़ें कल से जुटाना शुरू करूँगा," ओधेलु ने कहा। "हमने नहीं सोचा था कि कोई सचमुच में गड्ढे वाले करघे की बुनाई सीखने आएगा," वे मुस्कुराते हुए बोले।

"अच्छा है, तब मैं हर चीज़ शुरू से सीखूँगी," मैंने कहा। इस तरह चेन्नूर में मेरा प्रवास शुरू हुआ। मेरी नई दिनचर्या में मैं नाश्ते के बाद

सत्यनारायणगारू के घर से सुबह नौ बजे निकलती, दिन के खाने के लिए डेढ़ बजे वापस आती, तीन बजे फिर चली जाती और शाम साढ़े छह बजे वापस आती। इस तरह मैं रोज़ छह से सात घण्टे बुनकरों की बस्ती में बिताती थी।

## हम करघा कहाँ लगाएँ?

जैसा मैंने पहले बताया है, गड्ढे वाला करघा देश में सबसे ज़्यादा उपयोग होने वाले करघों में से एक है। बुनकर फर्श पर बैठता है और फर्श में बने गड्ढे में स्थित पैडलों को चलाता है, इसलिए इसका यह नाम है। विभिन्न विकल्पों पर विचार करने के बाद हमने ओधन्ना के घर में करघा लगाने का निर्णय लिया। पर कहाँ? वहाँ रसोईघर के अलावा लगभग कहीं जगह नहीं थी। मेरे लिए किसी की रसोई में खुदाई की जाए? अरे नहीं!

"इसके सिवाय हमारे पास दूसरा कोई विकल्प नहीं है", हँसते हुए ओधन्ना की पत्नी लक्ष्मम्मा ने कहा, "कोई बात नहीं।"

इसके बाद गड्ढे वाले करघे के सहायक साधन जुटाने के लिए "खोज और संग्रह" का काम शुरू हुआ क्योंकि बस्ती के बुनकर अब इन करघों का इस्तेमाल नहीं कर रहे थे। वे सब अब खाँचे वाले करघे इस्तेमाल करने लगे थे, सम्भवतः इसलिए क्योंकि उन्होंने पारम्परिक साड़ियाँ बुनना बन्द कर दी थीं। इन सहायक साधनों को ढूँढते समय मेरी मुलाकात गड्ढे वाले करघे के एक और बुनकर, मोती रामचन्द से हुई। वे मूलतः एक बुनकर थे, पर बेहतर जीविका की तलाश में उन्होंने कई दूसरी चीज़ें भी की थीं। उन्होंने सिलाई (दर्ज़ी का काम) और वेल्डिंग तक में हाथ आज़माया था पर फिर वापस यही गड्ढे वाले करघे की बुनाई करने लगे थे। "अपनी ज़िन्दगी की लय" में वे क्यों वापस आए, यह समझाते हुए वे बोले, "जो हाथ नाज़ुक और बारीक काम करने के आदी हों वे उस तरह के काम नहीं कर सकते"। उनके पास जो भी अतिरिक्त साज़ो-सामान था, वे मुझे देने के लिए राज़ी हो गए।

इस बीच, मैंने बुनाई के लिए ताने को तैयार करना शुरू कर दिया। छोटे-मोटे अन्तरों को छोड़कर कई तकनीकें खाँचे वाले करघे के जैसी ही थीं (जिस पर मैंने चेन्नई में काम करना शुरू किया था)। हालाँकि मैं शुरुआत में धीमी थी पर जल्दी ही मैं तेज़ी से काम करने लगी। एक बार ओधन्ना



के पिता मुझे ताना बुनते देख रहे थे। "हूँ, यह कुछ काम करना तो जानती है, नहीं तो इतनी जल्दी सीखना मुमकिन नहीं होता," उन्होंने कहा। मैं रोमांचित हो उठी। एक अनुभवी बुनकर से प्रशंसा पाने की ज़रा कल्पना तो कीजिए!

ताना तैयार करने के बाद उसका उपचार करना पड़ता है जिसे "साइज़िंग" कहते हैं। साइज़िंग की प्रक्रिया में माड़ वाले दलिया के पानी को ताने पर छिड़का जाता है, और फिर उसे एक खास ब्रश की सहायता से फैलाया जाता है जो उसी पौधे की जड़ों से बनता है जिससे झाड़ुएँ भी बनाई जाती हैं। साइज़िंग की यह तकनीक ही महीन भारतीय सूती कपड़ों को भी टिकाऊ और मज़बूत बनाती है। पहले दिन से ही, हर दूसरे बुनकर ने, जिससे मैं मिली, मुझे चेताया, "साइज़िंग सबसे मुश्किल काम है। यदि तुम यह कर सकती हो, तो तुमने बुनाई सीख ली!" अतः मुझे भी साइज़िंग की यह प्रक्रिया सीखने का इन्तज़ार था। "कल जल्दी आना, सुबह छह बजे। हम ताने का उपचार करेंगे," ओधन्ना ने एक शाम मुझसे तब कहा जब मैं वापस सत्यनारायणगारू के घर जाने के लिए निकल रही थी।

मैं अगली सुबह निष्ठापूर्वक ठीक छह बजे पहुँच गई। पहले लक्ष्मम्मा ने ज्वार का दलिया बनाने में मेरी मदद की। फिर मैं और ओधन्ना एक अन्य बुनकर की सहायता से ओधन्ना के घर के सामने की सड़क के दो खम्भों के बीच ताने को फैलाने में व्यस्त हो गए। जब ताने की उलझनें सुलझाकर उसे सीधा तान लिया गया, तो ओधन्ना ने उस पर पतले दलिया का पानी छिड़कना शुरू किया। इसके बाद वे दोनों ताने पर ब्रश फेरते हुए उसके एक छोर से दूसरे छोर तक भागते रहे।

हालाँकि यह देखने में काफी आसान लगता है – दो आदमी भारी ब्रश को पकड़े हुए ताने के दोनों ओर एक छोर से दूसरे छोर तक भागते हैं – पर इस दौरान कई चीज़ों का ध्यान रखना पड़ता है। ब्रश पर दोनों तरफ एक-सा ज़ोर लगना चाहिए और ब्रश एकदम सीधा रखा जाना चाहिए। इसके अलावा दलिए के पानी का छिड़काव और फिर ब्रश फेरने की प्रक्रिया कई बार दोहराना पड़ती है। इसमें हर काम सही समय पर करने की बहुत अहमियत है और दलिया के पानी द्वारा तर किए गए धागे को सूरज की गर्मी से सूखने के पहले उस पर ब्रश चलाना पड़ता है। इसी कारण साइज़िंग की यह प्रक्रिया आमतौर पर सुबह जल्दी की जाती है – अन्यथा

**चेन्नूर में गड्ढे वाले करघे पर**

आपके पास माड़ लगे सूखे ताने का गुच्छा रह जाएगा! मैंने भी कुछ बार अपने हाथ आज़माए।

जब ओधन्ना ने ताने को कुशलतापूर्वक अपेक्षित रूप दिया, उस समय हमारे आसपास थोड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी – उनमें से कई पुराने बुनकर थे। उन्होंने खड़े रहकर पूरी प्रक्रिया को पुरानी यादों के साथ देखा क्योंकि उनमें से कइयों ने बचपन में और किशोरावस्था में साइज़िंग की इस प्रक्रिया में अपने पिताओं और दादाओं की मदद की होगी। उनमें से बहुत थोड़े लोग आज भी इस पुश्तैनी व्यवसाय में थे और कइयों के पास गड्ढे वाले करघे के लिए सूती धागे का उपचार करने का हुनर अब बचा नहीं था। युवा पीढ़ी के कुछ लोगों के लिए प्रक्रिया उतनी ही नई थी जितनी मेरे लिए। उपचार करने की इस प्रक्रिया का अन्तिम नतीजा आश्चर्यजनक होता है। ताना रेशम जैसा लगने लगता है – अच्छे से सजा-सँवरा, जैसे ब्यूटी पार्लर में सज-धजकर कोई लड़की बाहर निकल रही हो!

“क्या तुम्हारा काम खत्म हो गया?” सुबह के नाश्ते के लिए थालियाँ लगाते हुए लक्ष्मम्मा ने पूछा। “चूँकि यहाँ हम दो लोग हैं, इसलिए हमने काम जल्दी कर लिया,” ओधन्ना ने उत्साहवर्धक मुस्कान के साथ कहा।

जब बुनाई के लिए मेरी शुरुआती तैयारियाँ चल ही रही थीं उसी दौरान हमने किसी तरह ब्रह्मय्या बढ़ई को ढूँढ लिया जो करघे बना सकते थे। अपने साधारण औज़ारों से ही उन्हें सभी प्रकार के उपकरण बनाते देखना



अद्‌भुत अनुभव था। उन्होंने उसी वक्त वहीं पर नापने के लिए एक पैमाना भी बना लिया! ब्रह्मय्या ने हमारे करघे के लिए ज़रूरी सहायक ढाँचा और दूसरे हिस्से तैयार कर दिए।

अगले दिन हमने करघा लगाने के लिए काम किया। ऊँचाई या चौड़ाई में ज़रा-सा अन्तर होने पर भी करघा त्रुटिपूर्ण बन सकता था इसलिए हर चीज़ एकदम बारीकी से नपी-तुली होनी थी। पर ओधन्ना ने इसके लिए नापने का एक टेप, एक हथौड़ा और एक रस्सी, सिर्फ ये औज़ार ही इस्तेमाल किए! उनके छोटे बच्चों, गणेश और लावण्या ने बहुत ही-ही-ठी-ठी करते हुए गड्ढा खोदने और फावड़े से मिट्टी हटाने में मदद की। दिन के अन्त तक हम सबके हाथों में छाले पड़ चुके थे!

आखिरकार बुनाई की घड़ी आई! एक छोटी-सी पूजा और प्रार्थना के बाद मैं करघे पर बैठी। मैं इतना चौड़ा कपड़ा बुनने की आदी नहीं थी और मैंने सोचा कि न जाने शटल एक छोर से दूसरे छोर तक जाएगी भी या नहीं। जब मैंने रस्सी खींची और “ठक” की वह आवाज़ सुनी जो शटल दूसरी तरफ स्थित बक्से से टकराते हुए करती है, तो एक पल को मेरे दिल की धड़कन मानो रुक-सी गई!

पहले दो दिन मुझे करघे पर बहुत अटपटा-सा लगता रहा। पर जब मैं अभ्यस्त हो गई तो मुझे गड्ढे वाले उस करघे पर बुनाई करने में बहुत मज़ा आने लगा। कभी-कभी ओधन्ना मेरी जगह लेकर करघे में छोटे-मोटे सुधार करते और फिर एक बच्चे की तरह रोमांचित दिखते हुए बुनाई करने लगते, जब तक कि मैं उन्हें उठने के लिए तंग न कर देती। “जब मैं गड्ढे वाले करघे पर बैठता हूँ तो मुझे उठने की इच्छा नहीं होती,” वे कहते।

सबसे अच्छी बात यह है कि ओधन्ना के – और सभी दूसरे बुनकरों के भी – हाथ उनके दिमाग के साथ एक लय में काम करते हैं। मुझे आमतौर पर इसमें दिक्कत होती थी कि मैं अपने दिमाग में मौजूद विचार को किसी कारगर चीज़ में बदल पाऊँ, जबकि ओधन्ना ऐसे जटिल प्रतीत होने वाले कामों को भी आश्चर्यजनक सरलता से कर लेते थे।

मैं घोंघे की रफ्तार से बुनती थी क्योंकि ताने के सिरे अक्सर टूट जाते थे। इस प्रकार मेरा ज़्यादा समय बुनाई करने की बजाय टूटे हुए सिरों को फिर से जोड़ने में जाता था। धीरे-धीरे सिरों के टूटने में कमी आई और

मुझमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। इस तरह मैंने छह मीटर बुनने में लगभग छह दिन ले लिए – जिसके लिए आमतौर पर बुनकरों को एक दिन से भी कम समय लगता है!

## बुनकरों के किस्से

बुनकरों की बस्ती में करीब 40 परिवार थे – वे सभी जाति से पद्मसाली थे। अधिकांश पुरुष और महिलाएँ "चेन्नूर चेनेत संगम" (हथकरघा सहकारी समिति) में काम करते थे। पर कुछ लोग दूसरे व्यवसायों में चले गए थे और वे ऑटो चालकों, सिंगारेनी की कोयला खदान में मज़दूरों, तथा मौसमी खेत मज़दूरों की तरह काम करते थे।

एक दिन मैं महिलाओं के साथ संगम गई। तब तक मैं अपना पहला ताना बुन चुकी थी। दूसरों से मेरा परिचय इस तरह कराया गया, "चेन्नई की लड़की है जिसने करघा लगाया है, कपड़ा बुन सकती है और करघे पर बैठने के पहले के सभी काम खुद ही करती है।" ये महिलाएँ लक्ष्मम्मा से बातें करने के लिए दोपहर में आती थीं और इन्होंने मुझे काम करते हुए देखा था। "हूँ....बुरा नहीं," कुछ ने कहा। "तुम यह सीखकर तकलीफें क्यों उठाना चाहती हो," दूसरों ने कहा।

मुख्य हॉल से सटे टीन शेड में ताने को बॉबिनों (फिरकी) पर लपेटा जा रहा था। सुबह दस बजे तक टीन के उस छप्पर से गर्मी अन्दर आने लगती और वहाँ असहनीय गर्मी हो जाती। वहाँ काम कर रही बूढ़ी महिलाएँ अपने कन्धों से पल्लू हटा लिया करतीं। मुख्य हॉल में एक-दूसरे के बेहद करीब लगे लगभग पचास करघे थे, सभी एक साथ काम करते थे। वह छोटा-सा कारखाना था और वहाँ केवल काम की रफ्तार का महत्व था। इसी से उनकी जेबें भरती थीं। बुनाई में ज़्यादा से ज़्यादा गति हासिल करने की कोशिश करने में उनके शरीर झटके से हिलते थे।

करघा लगाने से पहले का काम करते हुए, ओधन्ना और मेरे बीच ढेर सारी बातें होती थीं और जो दूसरे बुनकर उसके घर आते थे, वे भी हमारी बातचीत में शामिल हो जाते और अपना ज्ञान बाँटते थे।

मुझसे सबसे ज़्यादा पूछा जाने वाला प्रश्न होता था, "तुम बुनाई क्यों सीख रही हो और वह भी इतने पुराने ढंग की"। जवाब मुझे खुद भी ठीक से पता नहीं था। मैंने उन्हें बताया कि मैं कोई ऐसा हुनर सीखना चाहती थी जिसमें मेरे हाथों का इस्तेमाल हो और ऐसा संयोग हुआ कि मैंने बुनाई को चुना। मैं यहाँ गड्ढे वाले करघे की बुनाई सीखने आई थी क्योंकि यह "मूल" करघा था और मैं आज की बुनाई तकनीकों के विकास को इसके परिप्रेक्ष्य में समझना चाहती थी।



हमने मशीनरी, मज़दूरों के विस्थापन व उनके दूसरे व्यवसायों की तरफ पलायन जैसे मुद्दों की चर्चा की। ओधन्ना ने भविष्यवाणी के स्वर में कहा, "जब कोयले के भण्डार खत्म हो जाएँगे, तो मशीनें नहीं चल सकेंगी। यदि हम अभी अपने करघों पर काम करना बन्द कर देंगे तो हम उस समय तक सब कुछ भूल चुके होंगे।" हमने मशीनरी के बारे में गाँधी जी के विचारों पर भी बात की – कि मशीन को मज़दूरों के लिए काम आसान तो बनाना चाहिए पर उनकी जीविका को खतरे में नहीं डालना चाहिए। कुछ मुस्कुराते हुए ओधन्ना ने पिर्नो (शंकु के आकार की चरखियाँ) पर धागा लपेटने वाले चरखे में मोटर जोड़ने के अपने निर्णय के बारे में बताया ताकि लक्ष्मम्मा को सूत लपेटने में आसानी हो। क्या यह बात सिलाई मशीन के आविष्कारक की कहानी जैसी प्रतीत नहीं होती?

बुनकरों की गरिमा के बारे में सोचते हुए, ओधन्ना ने अपना व्यक्तिगत अनुभव सुनाया, "जब हम सार्वजनिक आयोजनों में जाते हैं तब हमें यह कहते हुए बहुत शर्म आती है कि हम बुनाई करके अपना जीवनयापन करते हैं। यहाँ तक कि वे लोग जो मुझसे भी खराब हालत में हैं, वे भी मुझसे पूछते हैं कि मैं बुनाई क्यों करता हूँ। मैं अपना सिर झुकाने के अलावा और क्या कर सकता हूँ? मेरे पास उस सवाल का कोई जवाब नहीं होता", उसने कहा। "पर अम्मा (उज़रम्मा) से मिलने के बाद स्थिति बदली," उसने आगे कहा। "उन्होंने हमारा आत्मविश्वास और गौरव वापस लौटाया।"

"क्या तुम अपने लड़कों, गणेश और महेश को भी बुनाई सिखाओगे?" मैंने पूछा।

"नहीं, नहीं," उसने जल्दी से जवाब दिया। "उन्हें पढ़ने दो ताकि वे कुछ और कर पाएँ और उन्हें हमारी तरह संघर्ष न करना पड़े।"

बुनकरों के पास उनके उद्भव और दूसरे रीति-रिवाज़ों से जुड़ी रोचक

लोककथाएँ भी हैं। पद्मसाली प्राचीन ऋषि मार्कण्डेयुलू के वंशज हैं। ऐसा माना जाता है कि उनके बेटे, भवनऋषि ने करघे की संकल्पना करके उसे बनाया और पहला कपड़ा बुना।

लक्ष्मम्मा मेरी बहुत अच्छी मित्र और साथी बन गई। वह मुझे काम करते देखती थी और दोपहर में ओधन्ना के लिए पिर्नो और बॉबिनों पर सूत लपेटते हुए मेरा साथ देती थी। एक दिन वह मेरे द्वारा बुनी गई एक डिज़ाइन से खास तौर पर प्रभावित हुई और उत्साहित होकर उसने अपनी सहेलियों को उसे देखने के लिए बुलाया। "देखो....क्या यह साड़ी जैसी नहीं लगती?" वह बोली। उसकी आँखें चमक रही थीं।

मैंने ओधन्ना के दूसरे बेटे महेश को रोज़ शाम को अँग्रेज़ी सिखाना शुरू किया। वह सातवीं कक्षा में था। तब मुझे एहसास हुआ कि अँग्रेज़ी पढ़ाना कितना मुश्किल है – आप कैसे समझा सकते हैं कि "पी यू टी" "पुट" होता है और "जी यू टी" "गट"?

## चेन्नूर में दूसरी पारी

चेन्नूर में मेरा प्रवास कुल दो महीनों का होना था। पहले महीने के बाद मैं वापस चेन्नई चली गई, और 3-4 महीनों के अन्तराल के बाद वापस आई। "तो तुम वापस आ गई?" बुनकरों की बस्ती के परिचित परिवेश में फिर से कदम रखने के बाद मुझसे लोगों ने पूछा। इस बार मैं करघे पर कुछ सरल नमूने तैयार करना चाहती थी और महीन सूत बुनने की चुनौती भी स्वीकारना चाहती थी। मैं ताने के लिए पीला धागा उपयोग करना चाहती थी, पर चूहों ने इस बीच पूरा सूत बर्बाद कर दिया था। फिर भी मेरी दिलचस्पी उसी पीले सूत में थी और मैंने उसे ही इस्तेमाल करने का निर्णय लिया। क्षतिग्रस्त सूत लपेटते समय बार-बार टूट जाता था पर मैंने धैर्यपूर्वक काम जारी रखा।

धैर्य? यह मेरे शब्दकोष का अन्तिम शब्द था। मुझे अचरज होता था कि क्यों दूसरी चीज़ें करते समय मुझमें इसका आधा धैर्य भी नहीं होता था। पर बुनाई के लिए इस गुण की सबसे ज़्यादा आवश्यकता होती है। यदि मैं बुनाई करते समय अधीर रहूँ, तो मैं अगले चरण तक नहीं पहुँच पाऊँगी। पर क्या यह धैर्य है? मैं सोचती हूँ कि इसके लिए सही शब्द है लगन। शायद सभी कलाओं की तरह बुनाई में भी आपको उस पर



अधिकार प्राप्त करने के लिए खुद को समर्पित करना पड़ता है।

जब मेरी माँ ने ओधन्ना से मेरे काम के स्तर के बारे में पूछा तो उन्होंने केवल इतना कहा, "बुनाई में उसकी रुचि है, वह मेहनत करती है और उसमें बहुत धैर्य है!" कभी-कभी जब बुनाई करते समय कई सिरे टूट जाते तो उनको देखने मात्र से मैं बिलकुल निढाल हो जाती थी। तब बहुत हताशा और क्रोध में मैं कोई गीत गाने लगती और नए सिरे से शुरुआत करती। किसने कहा है कि लोग केवल प्रसन्न होने पर ही गुनगनाते हैं? मैं अक्सर तब गाती थी जब मैं मानसिक और शारीरिक रूप से वाकई थकी और क्रोधित होती थी।

दशहरा उत्सव के लिए मैं, ओधन्ना और उनकी बेटी गायत्री के साथ उनके पैतृक गाँव, कुसनेपल्ली गई। यह टसर रेशम की बुनाई का एक केन्द्र है। टसर गेहुँए रंग का और असमान संरचना का एक जंगली रेशम होता है। रेशम को कोकूनों पर से हाथों द्वारा लपेटे जाने के नज़ारे को देखना बहुत आकर्षक था। धागे को बुनकर के बाएँ हाथ में रखे एक ढाँचे पर आठ के आकार में सही तरीके से लपेटने और फिर दाएँ हाथ का इस्तेमाल करते हुए जंघा पर रखे धागे को सही मरोड़ देने के लिए पूर्ण तालमेल और एकाग्रता की ज़रूरत होती है।

ओधन्ना अपने बचपन से बुनाई करते आ रहे थे। जब उनकी उम्र के दूसरे लड़के स्कूल जाते और खेलते थे, तब भी वे अपने करघे पर काम करते थे। उनके साथी करघे के पास की छोटी-सी खिड़की में से झाँकते और अपने खेल में शामिल होने के लिए उन्हें भी बुलाते। पर जब वे खेलने की बजाय उनसे अन्दर आने को कहते, तो वे भाग जाते।

"तुम जानती हो वे लोग अब क्या कर रहे हैं? वे लाखों कमा रहे हैं। और मैं, इतने साल काम करने के बाद....," वे मुस्कुराए। उनकी टिप्पणियों का मुझपर गहरा असर हुआ और उन्होंने विचलित करने वाले तमाम प्रश्न खड़े कर दिए। चेन्नूर वापस आते हुए मैं इन सवालों पर सोच-विचार करती रही।

हम अक्सर अफसोस करते हैं कि कारीगर लोग दूसरे व्यवसायों को अपना रहे हैं और उनका हुनर उन्हीं के साथ खत्म हो रहा है। पर बिरले ही हमें यह एहसास होता है कि कैसे हम खुद भी सक्रिय रूप से इस परिदृश्य

में योगदान करते हैं। हमारे देश में लगभग 1 करोड़ 30 लाख लोग हथकरघा क्षेत्र से अपनी आजीविका अर्जित करते हैं। इस तरह जीविकोपार्जन में यह कृषि के बाद दूसरे स्थान पर है। इसके अलावा यह उद्योग हमारे देश के लिए सर्वाधिक विदेशी मुद्रा कमाने वाले क्षेत्रों में से एक है। पर दिन-ब-दिन जिस तरह से प्रौद्योगिकी का विकास हो रहा है, वह दिन दूर नहीं जब मशीनें उन सब खास तकनीकों को भी अंजाम देने लगेंगी जिन पर बुनकरों को बड़ा गर्व है। तब हम इस हुनरमन्द श्रमशक्ति का क्या करेंगे जिसने पीढ़ियों से अपनी कला को तराशा है?

"श्रेष्ठतम ही बचता है, संयुक्ता। समय बदल गया है। तुम और क्या अपेक्षा करती हो?" एक मित्र ने एक बार यही तो कहा था जब मैंने उससे इस मुद्दे पर चर्चा की थी।

आज के वैश्वीकरण के आलम में कारीगरों को कहा जाता है कि या तो वे ऐसी नायाब चीज़ें बनाएँ जिनका निर्यात किया जा सके या फिर "दूसरे क्षेत्रों" को अपना लें। मुझे अक्सर आश्चर्य होता है कि क्यों कुम्हारों, बुनकरों और अन्य पारम्परिक कारीगरों को अपनी प्रतिभा साबित करने और जीवनयापन के लिए हमेशा कुछ अद्भुत कर दिखाना पड़ता है। और फिर भी जैसे ही कोई उत्पाद मशीनों द्वारा भी बनाया जाने लगता है तो ये लोग फिज़ूल मान लिए जाते हैं। जब साधारण स्तर के लिपिक, सरकारी अधिकारी आदि जी रहे हैं, और काफी अच्छे से जी रहे हैं, तो एक औसत बुनकर के लिए टिके रहना क्यों असम्भव हो गया है?

तमाम सरकारी दावों के विपरीत, अन्य विशेषज्ञों के साथ अपनी चर्चाओं से मैंने जाना कि ये तथाकथित "दूसरे क्षेत्र" गरीबों को स्थान देने के लिए न तो पूरी तरह तैयार हैं और न ही इसमें उनकी रुचि है। एक तरफ तो कारीगर अक्सर अपने पुश्तैनी हुनर को खो बैठता है, वहीं दूसरी तरफ बेहतर प्रतिफल की उम्मीद में वह एक से दूसरे व्यवसाय में, एक से दूसरी तकनीक में भटकता रहता है। आश्चर्य नहीं है कि शहरों में कभी-कभी ऐसे रिक्शे वाले, निर्माण मज़दूर और फेरी लगाने वाले मिलते हैं जो कभी व्यावसायिक बुनकर हुआ करते थे। विचारों में यों डूबे होने की वजह से मेरी चेन्नूर वापसी की लम्बी यात्रा काफी छोटी प्रतीत हुई।

एक दिन जब हम वापस लौटे तो मैं नील की रंगाई देखने के लिए ओधन्ना



के साथ हौज वाले रंगाई-घर गई। चेन्नूर के बुनकर, जो दस्तकार आन्ध्र के लिए काम करते थे, हौज में पारम्परिक तरीके से की जाने वाली प्राकृतिक रंगाई में प्रशिक्षित थे। मुझे बताया गया कि इस तरीके में नील की छटा गहरा जाती है और रंग के पक्के होने में बहुत सुधार होता है, पर रंग के हौज में से भयानक बदबू आती है!

"हमारे बच्चे भी हमारे पास नहीं आते। दूर हटो, तुमसे बदबू आती है, वे कहते हैं!" सत्तन्ना ने हँसते हुए कहा। "पर यह हमारा काम है, हम कैसे कह सकते हैं कि हम यह नहीं करेंगे।" उन्होंने आगे कहा। उनके नाखून स्थाई रूप से नीले रंग जाते हैं। इतना ही नहीं उनके आसपास की सभी चीज़ें नीली थीं – उनकी चादरें, कमीज़ें और यहाँ तक कि उनके घर की धूल भी!!

चेन्नूर प्रवास का दूसरा महीना जल्दी ही समाप्त हो गया। चेन्नूर में सीखी गई बातों को यहाँ बाँटे गए अनुभवों के कुछ पन्नों में समेटना बिलकुल असम्भव है।

मैं कैसे बताऊँ कि जब मैंने चेन्नई में अपने बुनाई के गुरू, शंकरन अन्ना को तीन मीटर कपड़े का टुकड़ा भेंट किया तो मुझे कैसा लगा? या कि जब मेरे पिता ने मेरे बुने कपड़े से कुर्ता सिलवाया? या जब मेरे माता-पिता ने प्रतिष्ठित गाँधीवादी-समाजवादी सिद्धराज ढड्ढा और हर्षमन्दर अंकल, दोनों को ऐसा एक-एक कुर्ता भेंट किया? मैं उस खुशी और गर्व की भावना को शब्दों में कैसे व्यक्त कर सकती हूँ जब मैंने खुद के द्वारा बुने कपड़े से सिली पोशाक पहनी और फिर लोगों को अविश्वास से यह कहते सुना, "क्या! यह कपड़ा तुमने खुद बुना है?" मेरी छोटी बहन ने मेरी तरफ सराहना के भाव से देखा और कहा, "अब मैं सबसे कह सकती हूँ कि मेरी बहन बुनकर है।"

# 4

# घाटी के लिए एकजुट होना

हर साल स्कूल द्वारा अपने विद्यार्थियों को एक या दो हफ्ते लम्बी यात्राओं में ऐसे स्थानों पर ले जाया जाता है जहाँ ये लोग सामाजिक संघर्षों से जुड़े लोगों से मिल सकें। वह यात्रा टिहरी बाँध के मुद्दे को समझने के लिए गढ़वाल की पहाड़ियों का पैदल भ्रमण हो सकता है या फिर भारत के पूर्वी तट की यात्रा हो सकती है, ताकि झींगे की गहन खेती से जुड़े पारिस्थितिकीय खतरों को समझा जा सके। नर्मदा घाटी – जहाँ उस नदी पर बन रहे बड़े बाँधों की शृंखला के निर्माण का प्रबल विरोध चल रहा है – की यात्रा सितम्बर-अक्तूबर 1997 में आयोजित की गई। मैं भी ग्यारहवीं और बारहवीं कक्षा के बच्चों के समूह के साथ दो हफ्ते की इस यात्रा पर गई जिसमें हमारे साथ दो शिक्षक, सुमित्रा अक्का और रमेश अन्ना भी थे।

कुछ अनुभव सिखाते हैं तो कुछ दूसरे अनुभव मनोरंजन करते हैं। कुछ रोमांचित करते हैं और जीवन में गुणात्मक सुधार लाते हैं। कुछ उन आदर्शों के बीज बोते हैं और उन्हें पोषित भी करते हैं जिनकी हम आकांक्षा करते हैं। लेकिन तब क्या कहें जब एक ही अनुभव में यह सब और इससे भी अधिक शामिल हो? नर्मदा का अनुभव मेरे लिए ऐसा ही सिद्ध हुआ।

घाटी जाकर उस चीज़ को खुद देखना जिसके बारे में मैंने सिर्फ पढ़ा ही था, मोहक विचार था। घाटी के दौरे के दौरान हम कई गाँवों में गए, कई बार एक गाँव से दूसरे गाँव तक पैदल चले, प्रभावित गाँववालों के साथ मुद्दों पर चर्चा की और नर्मदा बचाओ आन्दोलन (एनबीए) के कुछ कार्यकर्ताओं से भी मिले। उनमें से प्रमुख थे मेधा पाटकर और बाबा आमटे।

नर्मदा नदी के किनारों पर रहने वाले लोगों के लिए सरदार सरोवर बाँध

का क्या अर्थ था? इसने कैसे उनकी जीवन शैलियों और उनके अधिकारों को चुनौती दी है? एनबीए कार्यकर्ता संजय संगवई ने हमें बाँध के समर्थन में नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण (एनवीडीए) द्वारा तैयार किए गए तथ्य और आँकड़े, अध्ययन रिपोर्ट तथा विश्लेषण एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं और पर्यावरणविदों द्वारा इसके उपरान्त किए गए अध्ययन दिखाए। सामाजिक कार्यकर्ताओं और पर्यावरणविदों के इन अध्ययनों से पता चला कि कैसे यह पूरी परियोजना झूठे वादों और मान्यताओं पर आधारित थी और कैसे यह लाखों लोगों को विस्थापित कर देगी जिससे उनमें से अनेक लोग अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक जड़ों से उखड़ जाएँगे। नतीजतन हज़ारों हेक्टेयर की अनछुई वन भूमि व उपजाऊ क्षेत्र भी डूब जाएँगे।

गाँववालों के साथ बातचीत में जिस बात ने हमारा ध्यान खींचा वह यह थी कि वे लोग दुनिया में चारों तरफ हो रही घटनाओं से अवगत प्रतीत हुए – सौन्दर्य प्रतियोगिताओं से लेकर बाँध के निर्माण के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय द्वारा समय-समय पर पारित किए गए आदेशों तक से। ये वे लोग थे जो न सिर्फ अपने अधिकारों के लिए निडर होकर डटे रहे थे बल्कि उन्होंने यह स्पष्टीकरण भी माँगा कि किसकी कीमत पर किसका फायदा होने वाला है? क्या हमेशा सर्वाधिक गरीबों – दलित और आदिवासी (जनजातीय लोग) – का हारना ही ज़रूरी है? क्या उनकी कोई आवाज़ नहीं है? सरकार नर्मदा पर 1300 बाँध बनाने की इतनी बड़ी परियोजना उसके तटों पर रहने वाले लोगों से बिना परामर्श किए कैसे बना सकती है? सरकार तो आधी रात के समय उनकी झोंपड़ियों में घुस गई और उनसे कहा कि उन्हें अगले दो दिनों में अपने घर छोड़ना होंगे क्योंकि पानी का स्तर बढ़ा दिया जाने वाला था। और जब किसान अगली सुबह अपने खेतों में गया तो उसने क्या देखा? पूरी फसल को बुलडोज़रों द्वारा चौपट कर दिया गया था।

गाँववालों ने भावपूर्ण आतिथ्य के साथ हमारा स्वागत किया। एक अवसर पर हमें बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ जब हमने देखा कि आधी रात के समय पूरी ग्राम पंचायत हमारी अगवानी के इन्तज़ार में थी। इतनी रात होने के बावजूद हमने उनके साथ दो घण्टे तक चर्चा की! मेधा पाटकर की यात्रा लगातार जारी थी पर वे हमसे मिलने के लिए वहाँ रुकीं। मुझे याद है कि हम कितने अभिभूत हो उन्हें बैठे सुनते रहे थे। हममें से कुछ लोग शुरू



में अपने हाथों में एक पैन और कॉपी लिए हुए थे, पर जल्दी ही हमने उन्हें अलग रख दिया। लिखने की ज़रूरत ही कहाँ थी जब हम उनके हर शब्द को अपने दिमागों में अंकित कर सकते थे – ऐसे शब्द जो उन्होंने लोगों तक पहुँचने की अपनी उत्कट इच्छा से ओत-प्रोत होकर कहे थे। उस ऊर्जा और आवेग को चेन्नई के लोगों तक भला कोई कैसे पहुँचा सकता था?

मेधा पाटकर टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान की विद्यार्थी रही हैं। उन्हें सरदार सरोवर बाँध के बारे में पता चला, जिसे गुजरात की जीवन रेखा के रूप में प्रचारित किया जा रहा था। पर जब उन्होंने अपने अध्ययन के हिस्से के तौर पर तीन प्रभावित राज्यों गुजरात, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र का दौरा किया तो चौंकाने वाले तथ्य सामने आए। उन्हें यह जानकर बड़ा धक्का लगा कि जिन गाँववालों की ज़मीन पर बाँध बनाया जाने वाला था उनमें से किसी को भी इसके बारे में पता ही नहीं था। जो सिलसिला एक सामान्य दौरे की तरह शुरू हुआ था उसने सरकार की विकास नीतियों से सम्बन्धित प्रश्नों की शृंखला खड़ी कर दी और साथ ही इससे इस क्षेत्र में विशेषज्ञों द्वारा शोध और दूसरे अध्ययन शुरू हुए।

इसके बाद मेधा पाटकर ने निर्णय लिया कि वे गाँव-गाँव जाकर लोगों से बात करेंगी, उन्हें इस परियोजना के बारे में बताएँगी और उनसे यह पता लगाने का आग्रह करेंगी कि यह परियोजना उन्हें भविष्य में कैसे प्रभावित करेगी। उन्होंने बताया कि शुरू में गाँववाले उनके प्रति इतनी शंका से भरे थे कि वे उनको एक गाँव से दूसरे गाँव तक पैदल चलकर जाने की थकाऊ यात्रा के बाद पीने के लिए पानी देने से भी इन्कार कर देते थे। पर अब वे ही लोग अपना सिर ऊँचा किए नारा लगा रहे थे, "डूबेंगे पर हटेंगे नहीं।" मैं इस बात से चकित थी कि इस अकेली महिला में इतनी दृढ़ता और विश्वास था कि वह एक नहीं बल्कि तीन राज्यों की सर्वाधिक गरीब जनता को अपने अधिकारों की माँग करने के लिए लामबन्द करने में सफल हुई थी। इस तरह मेधा पाटकर अथक लगन के साथ दो दशकों से भी ज़्यादा समय से लोगों के साथ व लोगों के लिए लड़ी हैं। मेरे विचार पिपलोदा के एक ग्रामीण द्वारा कही गई बात में प्रतिध्वनित हुए, "आपको लग सकता है कि मेधा दीदी हमारा नेतृत्व कर रही हैं। यह सही नहीं है। वे हमारे साथ चल रही हैं।"

एक दिन हमें नदी पार करना थी और दूसरी तरफ जाकर एक जनजातीय बसाहट में पहुँचना था। साँझ का समय था और सूरज पहाड़ियों के पीछे डूब रहा था। नदी स्थिर थी और उस पल का मौन सम्मोहक था। नदी पार करने का माध्यम डोंगा था जो आकार में बहुत कुछ आधी फली-सा दिखता था। हमारे चालक की नज़र दूर स्थित एक डोंगे पर गई व उसने मल्लाह को बुलाया और डोंगा हमारी तरफ आने लगा। चालक ने हमें चेताया, "आपको एकदम स्थिर होकर बैठना होगा, यदि आप इधर-उधर हिलेंगे तो डोंगा पलट जाएगा। तब आप नदी के पार न जाकर उसके भीतर चले जाएँगे।" उसने हमें वाकई डरा दिया और हमने सोचा कि नदी पार की जाए या नहीं। मैं अन्त में वहीं रुक गई क्योंकि मैं थकी हुई थी और मुझे अच्छा नहीं लग रहा था, पर कुछ अन्य लोग दूसरी तरफ गए।

अचानक पंखों के फड़फड़ाने की आवाज़ से शान्ति भंग हुई। हमें पक्षियों जैसी लगने वाली आकृतियाँ दिखीं, पर उनके पंख हिलाने का ढंग कुछ असामान्य था व काफी अवास्तविक प्रतीत हो रहा था। जब वे नज़दीक आए तो हमें यह जानकर हैरानी हुई कि वे असल में बहुत बड़े आकार के चमगादड़ थे, गिद्धों जितने बड़े, अपने भव्य पंखों को ऐसी धीमी गति से चलाते हुए जैसा आप कभी-कभी फिल्मों में देखते हैं।

वह दिन भी आया जब आखिरकार हम "आधुनिक भारत के नवीनतम मन्दिरों में से एक" सरदार सरोवर बाँध के निर्माण-स्थल पहुँचे। चूँकि उच्चतम न्यायालय ने बाँध के निर्माण पर रोक लगा दी थी, इसलिए यह विशालकाय ढाँचा आधा-अधूरा बना पड़ा था। लोगों को यह उम्मीद थी कि शायद अभी भी कुछ चमत्कार हो सकता था – यदि लोगों ने चाहा, यदि भगवान ने चाहा। पर नहर का निर्माण कार्य तब भी तेज़ी से चल रहा था। इससे पता चलता था कि सरकार को अन्त में बाँध का निर्माण भी पूरा कर लेने का कितना भरोसा था।

जहाँ हम खड़े थे वहाँ से हमें बाँध के जलाशय के भीतर पानी में से उभरा हुआ ज़मीन का एक छोटा-सा भाग दिखाई दे रहा था। उस टुकड़े पर हमें थोड़ी-सी झोपड़ियाँ और ताड़ के वृक्ष दिख रहे थे। वह था मणिबेली गाँव, बाँध का निर्माण शुरू होने के बाद डूबने वाली पहली बस्तियों में से एक। पहले लोग मणिबेली छोड़कर अधिकारियों द्वारा उनके लिए तय की गई पुनर्वास की जगह चले गए थे पर वहाँ जो कुछ उन्हें दिया गया था उससे



चिढ़कर, हताश और नाराज़ होकर इन लोगों ने वहाँ बसने की बजाय वापस लौटने का निर्णय लिया था। उन्हें लगा कि उनके गाँव का बचा हुआ यह छोटा-सा टुकड़ा क्षतिपूर्ति के तौर पर उन्हें दी गई सुविधाओं से कहीं बेहतर था। आखिरकार यह उनका घर जो रहा था।

एक धूल भरी सड़क कृष्णपुरा ले जाती थी जो एक पुनर्वास-स्थल है। आदमियों और जानवरों दोनों के लिए टीन के छत वाले घर और एक अस्पताल का ढाँचा इस धूल-धूसरित इलाके पर बने हुए नज़र आए। पर जिस बात से मैं वाकई व्यथित हुई वह थी वहाँ के लोगों के चेहरों पर हताशा और कटुता के भाव।

"पहले हमारे पास ज़मीनें थीं। अब हम सिर्फ दिहाड़ी मज़दूर रह गए हैं और अपने हर काम के लिए मालिक के प्रति जवाबदेह हैं," एक ग्रामीण ने हमें बताया। आज तक भी अनेक विस्थापितों को नकद या ज़मीन के रूप में पर्याप्त मुआवज़ा नहीं मिला है। कई लोगों को कृष्णपुरा जैसा पुनर्वास-स्थल भी नसीब नहीं हुआ है। बाँध के बाद नीचे के इलाकों में रहने वाले मछुआरों और नहरों के निर्माण के लिए विस्थापित किए गए कई दूसरे लोगों को "परियोजना प्रभावित" नहीं माना जाता और इसलिए उन्हें पुनर्वास का पात्र भी नहीं माना जाता।

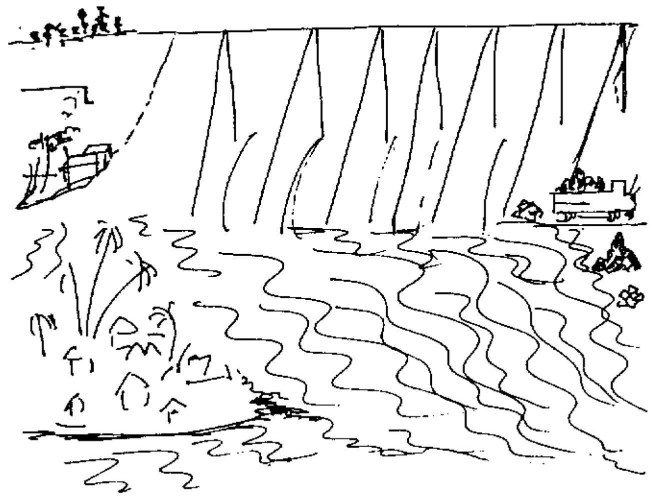

**जहाँ हम खड़े थे वहाँ से हमें ज़मीन का एक छोटा-सा टुकड़ा पानी से निकला नज़र आया – मणिबेली गाँव।**

चेन्नई वापस आकर, हम लोगों ने पोस्टकार्ड द्वारा प्रचार किया और कई विरोध प्रदर्शन आयोजित किए। हमने स्कूलों और कॉलेजों में विद्यार्थियों से बात की और उन्हें प्रसिद्ध फिल्मकार आनन्द पटवर्धन द्वारा इस संघर्ष पर बनाया गया वृत्तचित्र "नर्मदा डायरी" दिखाया। हर स्कूल और कॉलेज में जाकर विद्यार्थियों से मिलना, उनके साथ बात करना एक चुनौती थी क्योंकि हमेशा नए परिप्रेक्ष्य निकलकर आते थे। और चूँकि हम लोग एक ही आयु वर्ग के थे इसलिए विद्यार्थी कठिन सवाल पूछने में भी नहीं हिचकते थे। मैं धनराशि और हस्ताक्षर इकट्ठा करने तथा अरुन्धति रॉय के लेख "द ग्रेटर कॉमन गुड" की छायाप्रतियाँ बेचने के लिए घर-घर भी गई।

मुझे टी. नगर, चेन्नई के एक पार्क में नियमित तौर पर आयोजित होने वाले "सोप बॉक्स" सत्र के बारे में पता चला। अमूमन वहाँ कोई भी व्यक्ति श्रोताओं के समक्ष किसी भी मुद्दे पर भाषण दे सकता था। "सोप बॉक्स" पार्क के एक कोने में था और लगभग 20-25 आदमी उसके सामने एकत्रित हो गए थे। उठे हुए मंच (सोप बॉक्स) पर खड़ा हुआ एक वक्ता बड़े ही जोश में सार्वजनिक शौचालयों का इस्तेमाल करने हेतु पैसे देने के नियम के खिलाफ शिकायत कर रहा था! जो लोग बोलने के इच्छुक होते थे उन्हें पहले नामांकन कराकर अपना पता देना पड़ता था। जब मेरी बारी आई तो मैंने अपनी सीमित तमिल में थोड़े-से श्रोताओं के समक्ष चेन्नई में अपने पहले सार्वजनिक भाषण में नर्मदा मुद्दे पर बोला। चूँकि मैं उस सभा में अकेली लड़की थी, अतः सभी ने मुझे और मेरी तमिल में बात करने की कोशिश को सराहा। एक गुप्त प्रशंसक तो उसके बाद त्यौहारों के हर अवसर पर मेरे घर शुभकामनाएँ भी भेजता रहा!

यह अकेला अवसर था जब मुझे आँकड़े याद रहे – लोगों की संख्या जो डूब में आएँगे, नर्मदा जलक्षेत्र की जल क्षमता, कमान क्षेत्र का रकबा, वादे के मुताबिक बाँध से पीने के लिए कितना प्रतिशत पानी वास्तव में कच्छ और सौराष्ट्र जाएगा, और अपने तर्कों के समर्थन में इसी तरह के ढेर सारे तथ्य। गणित और संख्याओं के साथ मुझे हमेशा परेशानी रही है, पर पता नहीं कैसे इस बार ऐसा हुआ जैसे संख्याएँ कह रही थीं, "संयुक्ता बहन आगे बढ़ो, हम तुम्हारे साथ हैं।" यह नर्मदा बचाओ आन्दोलन के प्रचलित नारों में से एक था जो आमतौर पर आन्दोलन के किसी विशेष दौर में नेतृत्व प्रदान कर रहे व्यक्ति के समर्थन में बोला जाता था।



विरोध प्रदर्शन आयोजित करना और सार्वजनिक रूप से बोलना, इस मुद्दे को बेहतर तरीके से समझने का एक तरीका था। पर मेरे लिए इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण था लोगों के साथ मिलने के दौरान लगातार होने वाला आत्ममन्थन। मैं अक्सर भावुक और रक्षात्मक हो जाती थी। यह मुद्दा लोगों को छू क्यों नहीं रहा? कई बार मैंने खुद से पूछा कि, "इस पूरे संघर्ष से सैकड़ों किलोमीटर दूर चेन्नई में रहते हुए नर्मदा मुद्दे का मेरे लिए क्या महत्व है? क्या इसकी कोई भी सार्थकता है? और यदि है भी तो कोई इस अनुभव को व्यावहारिक, निजी कार्यवाही में कैसे बदले?"

पूरे भारत में इसी प्रकार की घटनाएँ घट रही थीं – फ्लाईओवर, पाँचसितारा होटल बनाने और विकास से जुड़ी इसी तरह की कई अन्य परियोजनाओं के लिए लोगों के विस्थापित होने के किस्से। मुझे इन सभी मुद्दों का समाधान एक ही दिशा में दिख रहा था – हमें अपनी ज़रूरतों पर लगाम लगाना होगा, उपभोग कम करना पड़ेगा और बचत ज़्यादा करना होगी। क्योंकि यदि हम इस प्रकार के विकास और जीवनशैली को जारी रखना चाहते हैं तो हमें अधिक से अधिक संसाधनों और ऊर्जा की ज़रूरत पड़ेगी। और ये सब हासिल करने के लिए इसी तरह की अन्य परियोजनाओं की ज़रूरत पड़ेगी जो और अधिक प्राकृतिक संसाधनों को चट कर जाएँगी तथा लाखों अन्य आदिवासियों और गरीब किसानों को बलिदान देना पड़ेगा। यह विडम्बना ही थी कि सरकार इन सभी गतिविधियों का प्रचार "विकास" (गरीबी उन्मूलन के लिए) के नाम पर कर रही थी जबकि इनके लाभ केवल उन्हीं लोगों को ही मिल सकते हैं जो उन्हें हासिल करने में आर्थिक रूप से समर्थ हों।

नर्मदा आन्दोलन से एक और रोचक प्रश्न सामने आया। अहिंसा को सिर्फ ऐतिहासिक आन्दोलन और गाँधीजी के साथ जुड़े प्रचलित शब्द की बजाय व्यक्तिगत और ज़मीनी स्तर पर रखकर देखें तो कोई व्यक्ति रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में

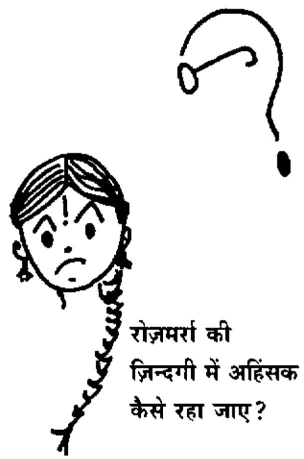

अहिंसक कैसे रह सकता है। क्या बाहरी अहिंसक संघर्ष और अन्दरूनी अहिंसक संघर्ष के आयाम एक समान होते हैं?

फरवरी, 1999 में स्तब्ध कर देने वाली खबर आई। भारत के उच्चतम न्यायालय ने अपना अन्तरिम आदेश देते हुए सरदार सरोवर बाँध की ऊँचाई को 80.3 मीटर से बढ़ाकर 88 मीटर करने की अनुमति दे दी (अन्तिम प्रस्तावित ऊँचाई लगभग 138 मीटर है)। चार साल की रोक के बाद निर्माण फिर से प्रारम्भ हुआ। ऊँचाई को बढ़ाने की इस अनुमति के परिणामस्वरूप 50-60 दूसरे गाँवों में बसे 2500 परिवार डूब में आ जाएँगे। लगा मानो उच्चतम न्यायालय के निर्णय में सभी बुनियादी मुद्दे – लागत-लाभ विश्लेषण, पुनर्वास योजनाएँ, पर्यावरण सम्बन्धी चिन्ताएँ – भी पूरी तरह डूब गए हैं।

नर्मदा घाटी के लोगों ने डूबने की इस अन्यायपूर्ण नियति को चुनौती देने का और पुनर्वास की स्थिति तथा ज़मीन की उपलब्धता के सम्बन्ध में अदालत में गलत हलफनामा देने के लिए सरकार का विरोध करने का निर्णय लिया। उन्होंने महाराष्ट्र के गाँव डोमखेड़ी में सत्याग्रह करने का आह्वान किया।

घाटी में हुई इन घटनाओं के बाद मुझे यकीन हो गया था कि उन लोगों के साथ एकजुटता जताने के लिए मुझे वहाँ होना चाहिए। जब मैंने वहाँ का एक और दौरा करने की चर्चा अपने माता-पिता से की, तो उन लोगों ने प्रोत्साहित किया, खासतौर पर इसलिए क्योंकि वे लोग खुद नर्मदा घाटी नहीं जा पा रहे थे। पारिवारिक मित्र अपर्णा के साथ जुलाई 1999 के अन्त में – मेरी पहली यात्रा के लगभग दो साल बाद – मैं फिर से घाटी के लिए चल पड़ी। (अपर्णा और उसका पति नागेश, दोनों अमरीका से लौटे इंजीनियर हैं जिन्होंने गाँव में रहकर ग्रामीण जीवनशैली अपनाने का निर्णय लिया। उन्होंने लगभग दस साल पहले हमारे गाँव में घर बनाने का फैसला किया और तब से वे हमारे लिए परिवार जैसे हो गए हैं।)

गुजरात में बड़ौदा के पास पहुँचकर ट्रेन नर्मदा नदी पार करती है। अपनी छोटी-सी खिड़की में से बाहर देखते हुए मुझे नीचे बहता धुँधला पानी डरावना-सा लगा। मैं सत्याग्रह में भाग लेने वाली थी। पर सत्याग्रह का वास्तव में मतलब क्या होता है? इस शब्द का, जिसने गाँधीजी को स्वतंत्रता आन्दोलन का मूर्त रूप बना दिया था, अब सिर्फ ऐतिहासिक अर्थ



नहीं रह गया था। यह एक बार फिर से वर्तमान का हिस्सा बन गया था। क्या इसका मतलब होगा उपवास, मौन, पुलिसिया मुठभेड़ या फिर शायद डूब ही? इस ऊहापोह में कि न जाने आगे क्या होगा, मैंने फिर से नदी की ओर देखा।

बड़ौदा से हमने सत्याग्रह के स्थान, महाराष्ट्र के डोमखेड़ी गाँव, के लिए बस पकड़ी। हमें कड़ीपाणी पर उतरकर पैदल चलकर हाफेश्वर तक जाना था और फिर वहाँ से हम डोमखेड़ी के लिए नाव लेते। कुछ घण्टों बाद, जब हम यह सोच रहे थे कि हम अपने पहले गन्तव्य पर पहुँच गए हैं या नहीं, एक आदमी बस में चढ़ा और उसने पूछा, "क्या आप मेधा पाटकर के साथ जुड़ना चाहते हैं? इसके लिए आपको अगले पड़ाव पर उतरना होगा।" हमने इस मदद के लिए उसे धन्यवाद दिया।

तब उसने फिर पूछा, "आप लोग कहाँ से हैं?"

"चेन्नई से", हमने उत्साहपूर्वक उत्तर दिया। हम यह जताना चाहते थे कि "हमें भी फिक्र है, हम आपके साथ हैं।"

पर अचानक उसका स्वर बदल गया। "आप सब यहाँ क्यों आते हो?" हमें यह समझने में एक क्षण लगा कि वह आदमी नादानी में यह नहीं पूछ रहा था कि हम वहाँ क्यों आए थे, बल्कि वास्तव में वह हमें वहाँ से चले जाने को कह रहा था। "क्या आप नहीं चाहते कि हम गुजरातियों की तरक्की हो?" उसने आगे कहा। "क्या आप अपने राज्य में हमें ऐसा करने देंगे?"

मैंने अपना चेहरा घुमा लिया और खिड़की के बाहर देखा। मुझे लगा कि इस अकेली घटना से मुझे गुजरात के लोगों की सोच समझ में आ गई थी। ज़ाहिर था कि वे लोग नाराज़ होंगे क्योंकि उन्हें यह विश्वास दिलाया गया था कि सरदार सरोवर उनकी पानी और बिजली सम्बन्धी सभी समस्याओं का समाधान है। क्या मैं वाकई उनकी उन्नति की आशाओं में दखल दे रही थी? पर मुझे बताएँ, कौन किसकी कीमत पर उन्नति कर रहा था? कमज़ोर लोग क्यों और अधिक शक्तिहीन होते जाएँ और ताकतवर लोगों की और अधिक शक्तिशाली बनने में मदद करें? स्वतंत्रता के पचास साल बाद अभी भी भारत में विकास इन आदिवासी गाँवों तक नहीं पहुँचा था – अभी भी वहाँ कोई स्कूल नहीं थे, सड़कें नहीं थीं, बिजली नहीं थी, अस्पताल नहीं थे – और निश्चित ही ये सब सरदार सरोवर परियोजना के साथ या उसके बाद नहीं आ जाने वाला था। मैंने

निश्चय कर लिया कि मैं ऐसे अन्याय के खिलाफ लड़ना जारी रखूँगी जो अधिक लोगों के लिए विनाश लाता है।

हम कड़ीपाणी पर उतरे और पहाड़ियों के बीच चलते हुए नदी तक पहुँचे। जब हम वहाँ खड़े इन्तज़ार कर रहे थे तो नीले झण्डे और एनबीए के प्रतीक चिन्ह वाली एक लाल मोटरबोट वहाँ आ पहुँची। ग्रामीण लोग इस चौड़ी नदी पर आवागमन के साधन के रूप में अब अपने डोंगों (जनजातीय नाव) का प्रयोग नहीं करते थे क्योंकि उनका इस्तेमाल बहुत खतरनाक हो गया था। गाँव वाले अब एक-दूसरे को इस छोर से उस छोर पर आवाज़ देकर नहीं बुला सकते थे। अब यह वह नदी नहीं रह गई थी जिसे ये लोग जानते थे। अब यह एक जलाशय बन चुकी थी।

लगभग पूरे दिन की यात्रा के बाद आखिरकार हम बड़ौदा से डोमखेड़ी पहुँचे। ज़ोरदार हर्षध्वनि और नारों के साथ हमारा स्वागत हुआ। किनारे से छह या सात मीटर की दूरी पर पैट्रोमैक्स लैम्प से रोशन एक तम्बू में कई आदिवासियों, कार्यकर्ताओं और साठ अन्य सत्याग्रहियों के बीच चर्चा हो रही थी। मेधा भी वहाँ थीं। "डूबेंगे पर हटेंगे नहीं।" उन्होंने संकल्प कर लिया था कि वे चढ़ते पानी का, अन्याय का, और परिस्थितियों की माँग हुई तो पराजय का भी सामना करेंगे।

मुझे पहाड़ियों का विशुद्ध सौन्दर्य देखने के लिए अगली सुबह ऊषाकाल तक इन्तज़ार करना पड़ा। यह ऐसा था जैसे कोई विशाल चित्र-पोस्टकार्ड मेरे सामने सजीव हो उठा हो। नदी, अपने दोनों किनारों पर बसे हुए गाँवों के साथ, सब तरफ फैली पहाड़ियों को बीच से बाँट रही थी। नदी के एक छोर पर डोमखेड़ी गाँव था, जहाँ हम ठहरे हुए थे। दूसरे छोर पर जलसिंधी गाँव था। पहाड़ियों की स्थिर काली परछाईं पानी पर पड़ रही थी। ढीठ और दृढ़ पहाड़। "डूबेंगे पर हटेंगे नहीं।"

सत्याग्रह में भाग लेने के लिए महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, कर्नाटक और केरल से कई युवा छात्र और पेशेवर कामों में लगे लोग एवं निमाड़ क्षेत्र के पास के गाँवों के लोग भी कई दिन पहले ही आ गए थे। मैं एक ऑटोरिक्शा चालक से बेहद प्रभावित हुई जो खुद की पूँजी लगाकर सुदूर केरल से इस उद्देश्य का समर्थन करने आया था। उसने जादू के प्रदर्शन से हमारा मनोरंजन किया और ज़ोरदार हर्षध्वनि के बीच हमें ऐसी दुनिया में पहुँचा दिया जहाँ सरदार सरोवर बाँध एकदम खो गया और उसकी जगह एक



मानव श्रृंखला बन गई!

प्रणाम (प्रार्थनाएँ) और श्रमदान (शारीरिक श्रम), सभा और भोजन दिन में दो बार होते थे। नारे किसी भी समय और कहीं पर भी सुनाई देते थे।

"अरे भाई, कोई नारा लगाओ," कोई कहता।

"विका...स चाहिए! विना...श नहीं!!" सौ आवाज़ें गरजकर कहतीं।

जब हम पहाड़ियों पर टहलने जाते तो किसी झोंपड़ी में से एक मद्धम-सी आवाज़ गूँजती "अमू आखा..." और हमारे यह कहने का इन्तज़ार करती "एक छे! (हम सब... एक हैं)।"

यदि हम "एक छे" का उत्तर नहीं देते तो वह आवाज़ फिर आती, "अमू अक्खा" और हमें उसका जवाब देना ही पड़ता।

अगले दिन युवाओं को बुकर पुरस्कार विजेता और विवादास्पद लेख "द ग्रेटर कॉमन गुड" की लेखिका अरुन्धति रॉय के नेतृत्व में होने वाली "रैली फॉर द वैली" के इन्तज़ाम की ज़िम्मेदारी सौंप दी गई। हम लोग फौरन विविध कार्यों में जुट गए – पोस्टर, बैनर और चित्र प्रदर्शनी के चार्ट बनाने से लेकर पीने के पानी के पीपे भरने तक में। अपने साथ पोस्टर और बैनर लिए हम जलसिंधी गाँव के लिए चले जहाँ अगले दिन "रैली फॉर द वैली" पहुँचने वाली थी।

जलसिंधी और नीमगव्हाण गाँवों में एनबीए द्वारा प्रारम्भ की गई जीवनशालाएँ (जीवन के स्कूल) हैं। स्कूल के शिक्षक (गुरुजी) ने हमें स्कूल के बच्चों द्वारा बनाए खिलौने, कहानी की किताबें और कैलेण्डर दिखाए। राज्य द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम पढ़ाने के अलावा इन बच्चों को स्थानीय आदिवासी इतिहास, उनके क्षेत्र के पौधों और जानवरों के वर्गीकरण विज्ञान, जनजातीय दवाइयों आदि के बारे में भी शिक्षित किया जाता था। वे अपने क्षेत्रों का मानचित्र बनाना और इस तरह अपने भूगोल को समझना भी सीखते थे। "जब हम बच्चों को ऐतिहासिक युद्धों के बारे में पढ़ाते हैं, हम उन्हें सिर्फ राजा, उसके शत्रुओं और उसके द्वारा अपने शासनकाल में जीती गई भूमि के बारे में ही बताते हैं। लोगों के बारे में कौन बात करता है?" गुरुजी ने पूछा। काश हमारे स्कूलों में भी पढ़ाई के लिए ऐसे विकल्प होते!

हम स्कूल में चौदह साल अधिकांशतः ऐसी चीज़ें पढ़ने में बिताते हैं जिनका हम वास्तविक जीवन में कभी उपयोग नहीं करते। दूसरी ओर हम

कुछ ऐसी बातें नहीं सीख पाते जो हमारी ज़िन्दगियों के संचालन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती हैं। हम अमरीका और अफ्रीका के नक्शे बनाना सीख लेते हैं, पर ठीक-ठीक यह नहीं जानते कि हमारा स्कूल शहर के पूर्वी हिस्से में है या फिर उत्तर की ओर स्थित है। हम पौधों के सूक्ष्मतम ढाँचे के ब्यौरे में जाते हैं, पर यह नहीं जानते कि एक पौधे को दरअसल बड़ा कैसे किया जाता है, कैसे उसका पोषण किया जाता है। हम रोज़ विभिन्न तरह के नए खाद्य पदार्थ खाते हैं और बढ़िया कपड़े पहनते हैं पर हमें कोई अन्दाज़ा नहीं होता कि इन्हें कैसे पैदा किया जाता है और कौन पैदा करता है। हम डायोडों और कैपैसिटरों के बारे में पढ़ते हैं पर जब हमारा पंखा या ट्रांज़िस्टर काम करना बन्द कर देता है तो हम पूरी तरह से असहाय हो जाते हैं। हम स्कूल की पढ़ाई तो पूरी कर लेते हैं पर हमने कभी कोई बैंक खाता नहीं खोला होता, ट्रेन की टिकट बुक नहीं कराई होती है और ना ही टैलीफोन कनेक्शन के लिए आवेदन दिया होता है। ओह, काश हमारे स्कूलों में ऐसी पढ़ाई होती जो हमारी ज़िन्दगियों के लिए ज़्यादा व्यावहारिक और अर्थपूर्ण होती!

"रैली फॉर द वैली" 2 अगस्त, 1999 को जलसिंधी पहुँची। इस रैली के गुजरात से गुज़रने पर पाबन्दी लगा दी गई थी। अतः इसे जलसिंधी, जो मध्य प्रदेश में स्थित है, पहुँचने के लिए लम्बे रास्ते से गुज़रना पड़ा। पूरे रास्ते में पुलिस लगाई गई थी। इस रैली में विद्यार्थी; पेशेवर लोग जैसे चिकित्सक, इंजीनियर, बैंक कर्मचारी; गैर सरकारी संगठनों के कार्मिक; मीडिया के लोग; कलाकार और कुछ विदेशी भी शामिल थे – चिन्तित लोग और कौतूहलवश आए लोग। जलसिंधी गाँव के मुखिया बाबा मुहारिया ने सभा को सम्बोधित किया और विस्तार से पूरे संघर्ष के बारे में बताया।

अरुन्धती रॉय काफी थकी हुई लग रही थीं पर उनका चेहरा रोमांच और दृढ़ता से दमक रहा था। इन सभी लोगों को इन परित्यक्त जनजातीय गाँवों तक लाना अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि थी। मेरे लिए, अरुन्धति रॉय एक नायिका थीं और मैं उनकी बेहतर झलक पाने के लिए और नज़दीक पहुँच गई। मैं उनके लेखन की बहुत बड़ी प्रशंसक थी और मुझे उनके दोनों निबन्धों के साथ ही बुकर पुरस्कार से पुरस्कृत उनका उपन्यास *द गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्ज़* बहुत अच्छा लगा था। मुझे उनसे यह कहने की बहुत इच्छा थी कि मुझे उनकी शैली (और उनके नैन-नक्श!) बहुत अच्छी लगती है, पर मैं ऐसा कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाई। मैं हर थोड़ी देर में उनको निहारकर सन्तोष कर लेती थी।



अगले दिन हम नीमगव्हाण में एक सभा करने के लिए इकट्ठा हुए। अरुन्धति रॉय को एक डलिया उपहार में दी गई जिसमें घाटी में पैदा होने वाले सभी अनाजों के बीजों का संग्रह था। मेधा ने अन्त में बोला। मैंने फिर वह खास स्वाद महसूस किया जो लोगों, उनके अपने लोगों, से उनके बात करने पर आता है। यह अन्य जगहों पर दिए जाने वाले उनके सार्वजनिक भाषणों से बहुत अलग होता है। यहाँ वे अपनी आत्मा उड़ेल देती हैं और हर थोड़ी देर में "आप क्या कहते हो, काका?" कहकर सभी श्रोताओं का ध्यान आकर्षित किए रहती हैं।

इस बीच, हमें खबर मिली कि उच्चतम न्यायालय द्वारा एनबीए और अरुन्धति रॉय पर अवमानना के आरोप तय किए जा सकते हैं। हम सभी ने एक ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए, जिसमें निर्भीकता से यह कहा गया कि यदि एनबीए पर अवमानना के आरोप लगाना न्यायसंगत माना जाता है, तो उसमें वहाँ उपस्थित हम सभी लोगों को भी शामिल किया जाना चाहिए।

हम लोगों में एक नई ऊर्जा और दृढ़ता आ गई कि हम ऐसे विराट विनाश को जारी नहीं रहने देंगे।

"घाटी जीवित रहेगी! हम उसे जीवित रखेंगे!"

# 5

# जे. कृष्णमूर्ति और जी. संयुक्ता

आजकल बुद्धिजीवियों, दार्शनिकों और विचारकों की रचनाओं को पढ़ने की बात एक सामान्य स्कूल या कॉलेज जाने वाले विद्यार्थी के दिमाग से बहुत दूर रहती है। मैं भी कोई अपवाद नहीं थी – शायद इसके पीछे "गम्भीर व्यक्ति" या बुद्धिजीवी का ठप्पा लग जाने का डर था। जो भी हो, हमारी रुचि फिल्मी सितारों, दोस्तों और लड़ाई-झगड़ों के बारे में बात करने में ज़्यादा थी बजाय हमारे दिमागों को परेशान करने वाली दुविधाओं और प्रश्नों की गहराई से पड़ताल करने में – और यही तो सही अर्थों में दर्शन का क्षेत्र है।

हालाँकि मैंने बहुत दर्शन नहीं पढ़ा था, पर सौभाग्य से उसके प्रति मेरा दिमाग खुला हुआ था। अतः जब मुझे बताया गया कि मुझे अपने पीएचई के एक हिस्से की तरह "कृष्णमूर्ति अध्ययन" करना है, तो मैंने लगभग बिना यह समझे ही कि क्या करने के लिए कहा जा रहा है, इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया। बाद में समझ में आया कि यह – दर्शन की कुछ महानतम कृतियों से परिचित होना और मेरे व्यक्तित्व पर उनका प्रभाव पड़ना – मेरे पीएचई सालों के सबसे अच्छे पक्षों में से एक साबित हुआ।

पीएचई कार्यक्रम की विवरणिका कहती है, "क्षेत्र 1: दार्शनिक – कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं की रोशनी में यह तलाशना कि मनुष्य होने का क्या मतलब होता है। इस क्षेत्र को बातचीत और पठन तथा वार्ताओं और संवादों की वीडियो रिकॉर्डिंग देखकर पूरा किया जाता है। धार्मिक और दार्शनिक पूरक सामग्री पढ़ने को भी प्रोत्साहित किया जाता है।

यह तथ्य, कि कृष्णमूर्ति दर्शन को "क्षेत्र 1" बनाया गया था, स्पष्ट दर्शाता था कि पीएचई कार्यक्रम का सर्वप्रमुख उद्देश्य क्या था। स्कूल, खासतौर

पर मेरे परामर्शदाता जी. गौतम ने, इस क्षेत्र में अधिकतम प्रयास किया।

कभी-कभी तकरीबन ऐसा लगता था कि गौतम अन्ना की रुचि केवल इस बात में होती थी कि "के-दृष्टिकोण" से क्या हो रहा था। वे जल्दी-जल्दी मेरी साप्ताहिक रिपोर्टों के पेज पलटते और जब उन्हें "के-अध्ययन" का उपशीर्षक दिखाई देता तो एक "आहा!" के साथ उनका चेहरा खिल उठता।

"तो पिछले हफ्ते क्या हुआ?" वे पूछते। वे बुनाई और दूसरी गतिविधियों में मेरी सभी उत्साहजनक रिपोर्टों और उपलब्धियों को सुनने का प्रयास करते थे, पर पक्के तौर पर नहीं कह सकती कि वे सचमुच में वह सब सुनते थे। इसलिए उनका प्रश्न वास्तव में यह भी हो सकता था, "पिछले हफ्ते तुम्हारे के-अध्ययन में क्या हुआ?"

मेरे के-अध्ययन में शामिल था जे. कृष्णमूर्ति (जेके) की रचनाएँ पढ़ना और या तो स्कूल के शिक्षकों से या फिर कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन से जुड़े अन्य लोगों से चर्चाएँ करना। जब पहली बार मैंने अध्ययन-कक्ष के शान्त परिवेश में जेके को पढ़ा तो मुझे उनकी भाषा और विचार के बहाव के अनुरूप अपने को ढालने में थोड़ा समय लगा। जेके को पढ़ने के बाद मेरी पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि, "हे भगवान! इस आदमी को तो ठीक-ठीक पता है कि मैं कैसे सोचती हूँ।" जेके को मानवीय दिमाग के तौर-तरीकों की पूरी तरह समझ है – जिस ढंग से वे सभी मानवीय भावों का निर्मम प्रश्नों द्वारा विश्लेषण करते हैं, और हमें हर मनोभाव की गहराई से पड़ताल करने के लिए प्रेरित करते हैं उससे सिर चकराने लगता है। पर साथ ही हम रोमांचित भी होते हैं, मानो आकाश से नीचे कूद रहे हों।

अक्सर, जेके को पढ़ते हुए एक समानान्तर विचार प्रक्रिया स्वतः ही प्रारम्भ हो जाती थी जो सवाल उठाती, "हाँ, सच है। पर क्या इस परिस्थिति में भी यह ठीक ऐसे ही काम करता है? क्या सचमुच मैं भी ऐसी स्थिति में वैसे ही काम करती हूँ?" यह सब कुछ इस तरह का हो सकता था:

"तथ्य यह है कि कुछ भी निश्चित नहीं होता। हर मनुष्य की वास्तविक दशा अनिश्चितता होती है। हम इसे स्वीकार कर क्यों नहीं जीते?"

सुनने में सरल लगता है... पर असल में यह होता कैसे है?



"क्या आपको पता है कि इसके साथ जीने का क्या अर्थ होता है? क्या कभी आपने किसी चीज़ के साथ जीवन जीने की परन्तु उसके आदी न हो जाने की कोशिश की है?"

हूँ... मुझे सोचने दो। नहीं, मैं तो हमेशा जिस भी चीज़ के साथ रहूँ, उसकी आदी-सी हो जाती हूँ – लोग, जगह, यहाँ तक की फर्नीचर भी।

"पता है कोई व्यक्ति किसी वृक्ष का, सूर्यास्त की सुन्दरता का आदी बन सकता है...। पर किसी वृक्ष के साथ जीना, सूर्यास्त को हर दिन एक नई नज़र से इस तरह देखना मानो आप उसे पहली बार देख रहे हों, स्पष्टता के साथ, गहनता के साथ – इसके लिए स्मृति की ज़रूरत नहीं; ज़रूरत यह है कि आप उसे प्रतिदिन, नई ताज़ा नज़र से गहराई से देखें।"

पर क्या ऐसा करना वाकई सम्भव है? उदाहरण के लिए, यदि मेरी किसी दोस्त ने पिछले दिन मुझे अपमानित किया है, तो मैं कल की याद के बिना नए सिरे से उसके साथ कैसे बातचीत कर सकती हूँ मानो कुछ हुआ ही न हो? कभी तो यह भी हो सकता है कि भूतकाल की कोई स्मृति वर्तमान में न रखने से वाकई कोई मदद न मिले। यदि मैं किसी ऐसे व्यक्ति को हमेशा पैसा उधार देती रहूँ जिसने आज तक वह पैसा कभी लौटाया नहीं हो, तो मैं "नई सोच" के साथ उसे फिर से पैसा कैसे दे सकती हूँ? ऐसे में मैं भला सीखूँगी कब?

"अतः हमें अनिश्चितता के साथ जीना होता है। क्योंकि वही मन सृजनशील होता है जो अनिश्चित हो। जब आप अनिश्चितता की उस दशा में जीते हैं, तो आप पाएँगे कि आप किसी भी स्तर पर जीवन की हर समस्या, हर विपदा, हर चुनौती का सामना स्पष्टता और तत्परता से कर सकते हैं।"

बात तो ठीक है, पर हर चीज़ का सामना करना – वहीं और उसी समय – का दरअसल क्या मतलब है? क्या इसका मतलब यह है कि मुझे किसी भी चीज़ की योजना नहीं बनानी चाहिए? हालाँकि यह तथ्य हो सकता है कि हर चीज़ अनिश्चित हो, पर हर चीज़ योजनाओं के अनुसार भी चलती है, यहाँ तक कि स्वरूप-मुक्त घटनाएँ भी किसी अर्थ में नियोजित होती हैं। उदाहरण के लिए मेरे पीएचई जैसे मुक्त कार्यक्रम का भी एक निश्चित ढाँचा है। तो वास्तव में व्यावहारिक अर्थ में अनिश्चितता के साथ जीने का क्या अर्थ होगा?

यह मन्थन इसी तरह चलता रहता। मैं इन प्रश्नों को लिख लिया करती, ताकि मैं अन्य शिक्षकों के साथ अपनी बातचीत में उनकी चर्चा कर सकूँ। मेरे वार्तालाप का साथी कोई मार्गदर्शक होता जिसका अधिक ध्यान बातचीत को सही दिशा में आगे बढ़ाने पर रहता लेकिन साथ ही वह मेरे नज़रियों और तर्कों के प्रति खुला, लचीला और संवेदनशील भी बना रहता। स्कूल में कई अन्ना और अक्का इसमें बेहद कुशल थे – गौतम, प्रसाद, अनन्त, सुमित्रा, पद्मावती, रमेश, पुष्पा, बीना।

चर्चा का विषय उस हफ्ते के दौरान घटी कोई बात भी हो सकती थी – कुछ भी – जिसके बारे में बात करने को मैं बहुत उत्सुक होती। एक दौर में मैंने खुद को बहुत चिड़चिड़ा और परेशान पाया। जब मैं अपने शिक्षक से मिली तो हमने यह देखना शुरू किया कि इसकी शुरुआत कहाँ से हुई और क्या यह दरअसल मेरे अन्तस में दबी किसी चीज़ का लक्षण था। क्रमशः मुझे समझ आया कि मैं लगातार भारी असुरक्षा और भय से लड़ रही थी कि अगर मैं एक अच्छी बुनकर, या ज़िन्दगी में कुछ बढ़िया न बन पाई तब क्या होगा, और यही व्यग्रता अनेक तरह की चिड़चिड़ी प्रतिक्रियाओं के रूप में उभर रही थी।

जैसे-जैसे यह बातचीत आगे बढ़ी, मुझे एहसास हुआ कि मेरे भीतर इतना अधिक द्वन्द्व इसलिए था क्योंकि मैंने अपने सामने किसी प्रतिमान को "आदर्श" और "सफल" मानकर रखा हुआ था और मैं अवचेतन रूप से लगातार खुद को उस आदर्श के सामने रखकर तौलने की कोशिश कर रही थी, हालाँकि मैंने एक वैकल्पिक कहलाने वाला मार्ग चुना था। "क्या है" और "क्या होना चाहिए" इसके बीच एक फासला था। तो मैं इस द्वन्द्व से कैसे निपटी? जब हमने और गहराई से पड़ताल की तो प्रश्न कठिन होते गए। ऐसा नहीं था कि वे स्पष्ट उत्तरों की ओर ले जा रहे थे, पर यही तो इस पूरी प्रक्रिया की रहस्यात्मकता और सुन्दरता थी। अक्सर हमें एक-दूसरे के दृष्टिकोणों से किसी मुद्दे के और इस प्रकार स्वयं के बिलकुल नए आयाम दिखाई देते। अन्त में, मैं अपने आप से कहती, "ठीक है, अब मैं अपने चिड़चिड़ेपन को बेहतर तरीके से समझती हूँ। क्या मैं कल कुछ कम चिड़चिड़ी रहूँगी? मैं अपना अवलोकन करूँगी...।"

कभी-कभी जेके के किसी उद्धरण से मैं सोच में पड़ जाती और फिर हम विस्तार से उसकी पड़ताल करते। जेके ने "आप ही संसार हैं" की



अवधारणा पर बहुत बात की है और उनका यह भी कहना है कि सारी हिंसा, बेचैनी और अन्याय, जिनके बारे में हम शिकायत करते हैं, बाह्य नहीं हैं और न ही "बाहर स्थित" हैं, बल्कि हमारे भीतर ही हैं। इसलिए बदलाव पहले भीतर शुरू होना चाहिए। यह बात तर्कसंगत तो लगती थी, पर मुझे अक्सर उलझन होती थी कि क्या मुझे इस सारे अन्याय के साथ तब तक इन्तज़ार करते हुए जीना पड़ेगा जब तक कि हम सभी बेहतर इन्सान न बन जाएँ। जब मैं खुद को मनुष्य की तरह देख रही होती थी तो बाहरी दुनिया के बारे में कुछ करने की ज़रूरत महसूस होती थी। खासतौर पर विभिन्न सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा उठाई जा रही लोगों की समस्याओं के प्रति भी मेरी सहानुभूति थी और मैं सोचा करती थी कि, "आप ही संसार हैं" की अवधारणा के बारे में वे क्या कहना चाहेंगे।

कई मनोभाव और घटनाएँ जिनके बारे में जेके ने लिखा – भय, असुरक्षा, मृत्यु, अहंकार, सत्ता, सत्य इत्यादि – मुझे खासतौर पर रोचक लगे। "सम्बन्ध का दर्पण" पर उनके विचारों ने व्यक्तिगत स्तर पर मेरे लिए बहुत कुछ उजागर किया। "... खुद को जानने के लिए व्यक्ति को स्वयं को क्रिया के दौरान देखना चाहिए, जो कि सम्बन्ध का रूप लेती है। आप स्वयं को तब तलाश पाते हैं जब आप एकाकी न हों, सबसे कटे न हों, बल्कि सम्बन्धों में – समाज के साथ के सम्बन्धों में, पत्नी के साथ, पति के साथ, भाई के साथ, मानव के साथ सम्बन्धों में हों। पर यह खोजने के लिए कि आप कैसे प्रतिक्रिया करते हैं या आपके प्रत्युत्तर क्या हैं, मन की असाधारण जागरूकता और दृष्टि के पैनेपन की ज़रूरत होती है।"

पहली बार मैं खुद को दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों में देख रही थी – जिसे कृष्णमूर्ति बिना निर्णायक बने "देखना" कहते हैं: किन्हीं खास परिस्थितियों में मैंने कैसा आचरण किया, मैंने उस तरह का बर्ताव क्यों किया, या मैंने क्यों कुछ लोगों के साथ एक निश्चित ढंग से बर्ताव किया जबकि दूसरों के साथ अलग ढंग से। खुद को "देखने" की प्रक्रिया जिसमें आप अपने को नए सिरे से खोजते हैं, अत्यधिक आनन्द देने वाली पर साथ ही थका देने वाली हो सकती है।

कभी-कभी कुछ मौलिक प्रश्न उठते थे जो मुझे परेशान करते थे, जैसे "अपने बारे में और अधिक जानने के प्रति इतना ज़ोर क्यों? मैं अपने बारे में और क्यों जानूँ, जबकि अन्त में मुझे वैसे भी कोई निर्णय न करते हुए

खुद को देखना भर है?" फिर भी, ऐसी चर्चाओं और अध्ययनों के विभिन्न अन्वेषणात्मक अन्तर्सूत्रों ने मुझे मजबूर किया कि मैं अपनी ज़िन्दगी के कई पहलुओं के बारे में बहुत गहराई से सोचूँ। और कई बार तो मुझे अपनी मान्यताओं के आरामदायक क्षेत्र से बाहर आना पड़ा। कहने की ज़रूरत नहीं है कि मुझे पढ़ने से कहीं ज़्यादा वार्तालापों में मज़ा आता था। ये बिलकुल जेके द्वारा वर्णित उस प्रक्रिया जैसे होते थे जिसमें वे "शिक्षक और विद्यार्थी, दोनों साथ मिलकर तलाशें" की और "दो मित्रों की तरह चलें" की बात करते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति हमेशा "सुनने" पर और "एकाग्रचिन्तन" पर ज़ोर देते थे जो स्पंज की तरह सोखता है। "आपको सावधानी से और ऐसी गहनता के साथ सुनना होगा जो तथ्यों को विकृत नहीं करती, उनका अपने अर्थों में अनुवाद नहीं करती, उनकी तुलना नहीं करती; वास्तव में आपको खुद के साथ भी उतने ही गहन सम्प्रेषण की अवस्था में, समागम की अवस्था में होने की ज़रूरत होती है जितनी किसी वक्ता के साथ।" जब मैंने स्वयं का अवलोकन प्रारम्भ किया तब मुझे एहसास हुआ कि आमतौर पर मेरा ध्यान कितना उथला होता था। मैंने पाया कि "समग्र ध्यान" से सुने बिना, किसी से बातचीत के बीच में ही या तो मैं ध्यान देना बन्द कर देती थी, या दूसरा व्यक्ति जो कह रहा होता था उस पर फैसला देने लगती अथवा तुलना करने लगती। कोई अपने मन को पूरे समय एकाग्र रहने के लिए कैसे प्रशिक्षित करे? क्या कोई वास्तव में बिना निर्णायक बने अपनी आत्मा और हृदय से लोगों को, प्रकृति को, और स्वयं को सुन सकता है?

अहल्या चारी लम्बे अरसे तक जेके की सहयोगी रही थीं और वे के-वार्तालापों के लिए मेरी पसन्दीदा दोस्तों में से एक थीं। उनकी उम्र अस्सी के करीब थी और कितना ही जटिल मुद्दा हो, वे हमेशा आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ बोलती थीं। उनके पास किसी मुद्दे पर आपके साथ-साथ "चलने" की और साथ ही नए परिप्रेक्ष्य उजागर करने की दक्षता थी।

मैं स्वतंत्रता दिवस के मौके पर स्कूल में उनके द्वारा दिए गए सम्बोधन से खासतौर पर प्रभावित हुई। ब्रिटिश शासन के अधीन रहना कैसा था, इस बारे में उपाख्यानात्मक शुरुआत कर उन्होंने इस बेहद महत्वपूर्ण प्रश्न को छुआ कि उनके लिए और हम सब के लिए व्यक्तिगत तौर पर स्वतंत्रता का क्या मतलब था। दिमागी रूप से हम वास्तव में कितने



स्वतंत्र हैं? क्या हम पूर्वाग्रहों की ज़ंजीरों को तोड़ने में सफल रहे हैं? क्या हम अपने सोचने के ढंग में या कार्य करने के तरीके में स्वतंत्र हैं? क्या हमारी शिक्षा हमें स्वतंत्रतापूर्वक सोचने के लिए तैयार कर रही है, और क्या हमारे जीवन में विचार और कृत्य की स्वतंत्रता है जिसके लिए रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी प्रसिद्ध कविता, "जहाँ मन निर्भय है" में प्रार्थना की थी? मैंने एक नए नज़रिए से स्वतंत्रता के बारे में विचार करना शुरू किया।

मैं थियोसॉफिकल सोसायटी में अहल्या चारी के घर पर उनसे बातचीत करने के लिए जाया करती थी। मेरे जन्मदिन पर उन्होंने मुझे कुछ देर के लिए अपने घर आने को कहा। जब मैं बैठक में बैठी हुई थी, वे अन्दर गईं और एक घड़ी लेकर बाहर आईं। "यह एक पुरानी घड़ी है जो मैं पहना करती थी", उन्होंने कहा। "मैं इसे किसी ऐसे व्यक्ति को देना चाहती थी जो इसका निश्चित ही अच्छे से उपयोग करे। जन्मदिन मुबारक हो।" उन्होंने मेरी कलाई पर वह घड़ी बाँध दी। हालाँकि मुझे उसे पहनने में बहुत खुशी होती, पर उसका डायल ही मेरी कलाई जितना बड़ा था। अतः मुझे वह घड़ी अपने पिता को देना पड़ी और उन्होंने खुशी-खुशी उसे पहनना शुरू कर दिया।

कुछ समय बाद जेके वार्तालाप दिनचर्या का हिस्सा जैसे हो गए। यह प्रक्रिया एक बँधा-बँधाया रूप लेने लगी थी जिसका मैंने विरोध किया और उससे बचने की कोशिश की। मुझे याद है कि मैंने एक बार एक शिक्षक से कहा था, "गौतम अन्ना चाहते हैं कि इस हफ्ते मैं आपके साथ वार्तालाप करूँ। पर मैं किसी बारे में बात नहीं करना चाहती।" हालाँकि वार्तालाप तो चलते रहे, पर फिर वे उतने नियमित नहीं रहे, जैसे कि पीएचई के प्रारम्भिक दो सालों के दौरान थे।

मैंने जे. कृष्णमूर्ति की सारी रचनाएँ तो नहीं पढ़ीं जिसका आंशिक कारण यह था कि पढ़ने को बहुत कुछ था। पर जो रचनाएँ मैंने पढ़ीं उनसे मुझे उनके दर्शन का कुछ बोध हुआ और मैंने लगभग अवचेतन रूप से कुछ चीज़ों को सराहना और उन्हें आत्मसात करना शुरू कर दिया। कई बार गाँव में अपने परिवार के साथ चर्चाओं के दौरान मैं अनजाने में कुछ ऐसा कहती जिसमें निश्चित ही "के" दृष्टिकोण शामिल रहता। "हूँ... जे. कृष्णमूर्ति बोल रहे हैं," मेरे पिता शरारत भरे अन्दाज़ में कहते!

जेके के अलावा मैंने गौतम अन्ना द्वारा सुझाई गई बौद्धिक रूप से उद्दीप्त करने वाली कई दूसरी किताबें पढ़ीं, जैसे कठ-उपनिषद पर की गई टीका, जोस्टीन गार्डर रचित *सोफी की दुनिया (सोफीज़ वर्ल्ड)*, *प्लेटो के संवाद*, जॉन स्टीनबैक की किताबें तथा रिचर्ड बाक की *जॉनाथन लिविंग्सटन सी-गल*।

पीएचई कार्यक्रम के अन्तिम दौर में पाँच शिक्षकों, मेरी मित्र विनुता और मेरे परामर्शदाता गौतम अन्ना के पैनल ने मेरा साक्षात्कार लिया। पीएचई कार्यक्रम में मैंने जो कुछ भी सीखा था -- मेरे विषयों के दृष्टिकोण से और दूसरी तरह से भी – उस सब की हमने मिलकर समीक्षा की।

मेरी पढ़ाई का सार उन दो टिप्पणियों में किया जा सकता था जो मैंने अपने उस अन्तिम साक्षात्कार में कीं।

“आज मेरे मन में यह स्पष्ट है, जैसा जेके कहते हैं, कि स्वतंत्रता ज़िम्मेदारी के साथ आती है। यदि कोई पिछले तीन सालों को देखे तो मेरे पास सम्भवतः अपने किसी भी साथी की तुलना में खोजने और अपने मन की करने की ज़्यादा स्वतंत्रता थी। पर फिर भी, स्वतंत्रता अपनी चचेरी बहन ज़िम्मेदारी के साथ आई। इस स्वतंत्रता को सार्थक बनाने के लिए और उसे अपने मनचाहे ढंग से जीने के लिए मुझे चीज़ों को पूरी ज़िम्मेदारी के साथ अपने हाथों में लेना पड़ा। और आज मुझे उस स्वतंत्रता का मूल्य पहले से कहीं ज़्यादा स्पष्ट रूप में दिखाई देता है।”

“एक व्यक्ति की तरह, मैं अधिकांश मसलों को काले और सफेद में बाँटकर देखा करती थी। जबकि आज मैं देखती हूँ कि हर मुद्दे के कई पक्ष होते हैं, चाहे वह परमाणु युद्ध हो या कोई सौन्दर्य प्रतियोगिता। शायद इसने मुझे कई चीज़ों के बारे में और भी भ्रमित और अनिश्चित बना दिया है। पर अब मैं यह भी समझती हूँ कि वास्तविकता जटिल होती है और भ्रमित होना इतना भी नकारात्मक नहीं है।”

विदाई टिप्पणी के तौर पर पैनल के एक सदस्य ने कहा, “तुम्हारी भ्रान्तियों से विकसित होती हुई स्पष्टता का बोध होता है।”

मैं ईमानदारी से यह आशा करती हूँ कि यह हो रहा है। और मेरा विश्वास है कि आगे भी ऐसा होता रहेगा।

# 6

# यात्रा का एक पड़ावः स्नातक की डिग्री

जब मैंने जुलाई 1996 में हाई स्कूल पास किया तब तक मैंने कभी किसी पत्राचार डिग्री के बारे में नहीं सुना था, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) के बारे में सुनना तो दूर की बात है। पीएचई कार्यक्रम में आवश्यक था कि छात्र पत्राचार द्वारा एक डिग्री हासिल करें। इग्नू मेरी पहली पसन्द थी क्योंकि मुझे बताया गया कि वह सर्वोत्तम है और क्योंकि उनके द्वारा जीव विज्ञान व विज्ञान के दूसरे विषयों में भी स्नातक की डिग्री दी जाती थी। स्कूल के पास इससे ज़्यादा जानकारी नहीं थी, अतः मैं खुद और अधिक जानकारी इकट्ठा करने के लिए निकल पड़ी।

चेन्नई स्थित इग्नू के क्षेत्रीय दफ्तर पहुँचकर मैंने विस्तार से उसकी पाठ्यक्रम-विवरणिका को देखा और पाया कि वे जीव विज्ञान में तीन साल का स्नातक डिग्री कार्यक्रम चलाते हैं। पर एक समस्या थी। इग्नू का शैक्षिक वर्ष जनवरी से प्रारम्भ होता था जिसका अर्थ था कि मेरा नामांकन होने और पाठ्यक्रम की शुरुआत होने में अभी छह महीने का समय और था। इसका यह अर्थ भी था कि मैं अपनी बी.एससी. दिसम्बर 1999 में ही पूरी कर पाती – नियमित रूप से कॉलेज जाने वाले बी.एससी. के किसी छात्र के छह महीने बाद। “ओह, नहीं,” रुआँसी होकर मैंने कहा। तो व्यावहारिक रूप से पीएचई कार्यक्रम अब तीन की बजाय साढ़े तीन साल चलने वाला था! खैर, मैंने आज्ञाकारी भाव से जीव विज्ञान कार्यक्रम में नामांकन कराया। मैंने पीएचई करने का निर्णय ले लिया था और अब मैं सिर्फ इस कारण से पीछे नहीं हट सकती थी कि मैं समय-सीमाओं को लेकर क्षुब्ध थी।

जल्दी ही और भी मुसीबत आई। जो अध्ययन केन्द्र मुझे दिया गया – जहाँ

मुझे सम्पर्क कक्षाओं, प्रायोगिक कार्य और परीक्षाओं के लिए जाना पड़ता – वह तिरुची का एक कॉलेज था, जहाँ पहुचने के लिए चेन्नई से ट्रेन से करीब दस घण्टे की यात्रा करना पड़ती है! प्रायोगिक पाठ्यक्रम और परीक्षाओं के लिए यह भी ज़रूरी था कि मैं कुछ दिन तिरुची में ठहरूँ। अब मैं क्या करती? जब मैंने अनन्त अन्ना के साथ इस समस्या की चर्चा की तो उन्होंने सुझाया कि मैं तिरुची में उनकी बहन के परिवार के साथ ठहर सकती थी। यह एक उदार प्रस्ताव था, पर मुझे यह समस्या का व्यावहारिक हल नहीं लगा। बेहतर होता कि ऐसा कोई तरीका निकल आता जिससे मैं अपना अध्ययन केन्द्र बदलकर चेन्नई के ही किसी कॉलेज में करा पाती। मेरा इग्नू कार्यक्रम को और कुछ हद तक पीएचई को जारी रखना भी इस पर निर्भर करता था।

जल्द ही मुझे तिरुची के अध्ययन केन्द्र से उनके परिचय-कार्यक्रम में प्रस्तुत होने का नोटिस मिला। ट्रेन में बैठी हुई मैं बहुत चिन्तित थी कि आगे सब कैसे होगा। वैसे भी यह पहली बार था कि मैंने ट्रेन की टिकट खुद बुक कराई थी और अकेली यात्रा कर रही थी। परिचय-कार्यक्रम के बाद मैंने अपनी समस्या के बारे में इग्नू के क्षेत्रीय सहायक निदेशक से बात की। मुझे इतनी चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं थी। उन्होंने मुझे तुरन्त आश्वस्त किया कि वे सम्बन्धित अधिकारियों से कहकर मेरा अध्ययन केन्द्र चेन्नई के डीजी वैष्णव कॉलेज में स्थानान्तरित करवा देंगे। यह बहुत अच्छी खबर थी और इस तरह मैंने इग्नू की अपनी पढ़ाई शुरू की।

इस मुक्त विश्वविद्यालय में क्रैडिट (अर्जित अंक) प्रणाली की व्यवस्था थी। मुझे अपनी स्नातक डिग्री अर्जित करने के लिए कुल 96 क्रैडिट पूरे करना थे। "बुनियादी पाठ्यक्रम" कहे जाने वाले कुछ विषय अनिवार्य थे जिनसे कुल 24 क्रैडिट बनते थे – मानविकी और सामाजिक विज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, अँग्रेज़ी तथा एक भारतीय भाषा (मैंने तेलुगु चुनी)। इन्हें पढ़ाई के पहले साल में ही पूरा किया जाना था। मुझे 24 क्रैडिट सहयोगी विज्ञान विषयों जैसे भौतिकी, रसायन शास्त्र और गणित से, तथा 48 क्रैडिट अपने मुख्य विषय जीव विज्ञान से पूरे करना थे। इग्नू द्वारा अपने छात्रों के लिए हर कुछ महीनों में अध्ययन केन्द्रों पर सम्पर्क कक्षाएँ संचालित की जाती हैं। उनमें से दो कक्षाओं में जाने के बाद मुझे लगा कि वे वास्तव में मेरे लिए बहुत उपयोगी नहीं थीं क्योंकि उनमें सिर्फ पाठ्यक्रम सामग्री की एकदम बुनियादी बातें ही बताई जाती थीं।



हर वर्ष मैं अधिकतम 32 क्रैडिटों का पाठ्यक्रम चुन सकती थी। दिए गए कार्यों और सत्रान्त में होने वाली परीक्षाओं में सफलता पाने पर ही किसी पाठ्यक्रम के क्रैडिट प्रदान किए जाते थे। नियत लेखन कार्य के लिए 30 प्रतिशत अंक थे और सत्रान्त की परीक्षा के 70 प्रतिशत। हर सत्र छह महीने का होता था और सत्रान्त परीक्षाओं के लिए मैं साल में दो बार बैठती थी – जून में और दिसम्बर में। हर सत्र के अन्त के दौरान ही मैं उन विषयों के लिए आवेदन कर देती थी जिन्हें मैं अगले सत्र में पढ़ना चाहती थी, ताकि अध्ययन सामग्री समय पर आ जाए। हालाँकि इस स्नातक कार्यक्रम को तीन से छह सालों में पूरा किया जा सकता था, पर मैंने इसे तीन सालों में ही पूरा करने का लक्ष्य रखा।

मैंने जीव विज्ञान में कई मॉड्यूल (लघु विषय) पूरे करने का फैसला किया – कोशिकीय जीवविज्ञान, विकास जीवविज्ञान, पारिस्थितिक विज्ञान, शरीर विज्ञान, जीव-रसायन शास्त्र, वर्गीकरण विज्ञान और विकास, मानव पर्यावरण। जो दूसरे विज्ञान मॉड्यूल मैंने पढ़े, वे थे – यंत्र विज्ञान, दोलन और तरंगें, परमाणु और अणु, अजैविक रसायन शास्त्र तथा गणितीय विधियाँ। आखिरी सत्र में जीव विज्ञान के छात्र को मानव पर्यावरण मॉड्यूल के अन्तर्गत – जो व्यावहारिक उपयोगों की दृष्टि से बनाया गया पाठ्यक्रम था – एक परियोजना पर काम करना अनिवार्य था।

अध्ययन सामग्री उत्कृष्ट थी, पर जिस गति से वह आती थी वह नहीं। मेरे दिमाग में दिए गए कार्य प्राथमिकता में सबसे ऊपर रहते थे क्योंकि क्रैडिट पाने के लिए वे उतने ही महत्वपूर्ण थे जितनी सत्रान्त की परीक्षाएँ। मैं नियमित रूप से बड़े जतन के साथ उन पर काम करती थी, पर जिस रफ्तार से उन्हें जाँचा जाता था, और दिए गए अंकों को दिल्ली के प्रधान कार्यालय भेजा जाता था, वह बहुत ही सुस्त थी। कभी-कभी तो ऐसा होता कि दिए गए कार्यों के लिए मुझे मिले अंक मेरे द्वारा सत्रान्त की परीक्षाएँ दे चुकने के भी बहुत बाद आते!

मैं अक्सर कॉलेज के इग्नू दफ्तर में जाती और इस आशा में उनके कागज़ों की छानबीन करती कि मुझे अपने भेजे गए कार्य जँचे हुए मिलेंगे; और कभी-कभी इसलिए भी जाती थी क्योंकि कार्यालय के कर्मचारियों के पीछे पड़कर अंकों को समय पर दिल्ली भिजवा सकूँ। आमतौर पर कई

विद्यार्थी दिए गए कार्य को निर्धारित समय-सीमाओं से कई महीने बाद तक भी जमा नहीं करते थे। अतः व्याख्याता भी कभी समय पर मूल्यांकन करने को महत्व नहीं देते थे। मैंने कभी-कभी व्याख्याताओं से व्यक्तिगत रूप से मिलकर उनसे यह विनती की कि मेरे भेजे गए कार्यों का मूल्यांकन जल्दी कर दिया जाए क्योंकि इससे मेरा अन्तिम परिणाम प्रभावित हो रहा था। सौभाग्यवश उनमें से कई बहुत सहृदय और मददगार थे। पर कठिन समय भी आए। एक बार आखिरी सत्र के दौरान मैं एक प्राध्यापक से मिलने के लिए, जिन्हें मेरे भेजे गए एक कार्य का मूल्यांकन करना था, ढिठाई से दिन-भर उनके कार्यालय के बाहर बैठी रही!

प्रायोगिक कार्य के बिना कोई भी विज्ञान अध्ययन पूरा नहीं होता। इग्नू में भी सैद्धान्तिक विषयों के साथ हमारी अनिवार्य प्रायोगिक कक्षाएँ होती थीं। मुख्य विषय के लिए विद्यार्थी द्वारा चुने जाने वाले कुल क्रैडिटों में से 25 प्रतिशत प्रायोगिक पाठ्यक्रम से होना पड़ते थे।

प्रायोगिक कक्षाएँ आमतौर पर सप्ताहान्तों के दौरान अध्ययन केन्द्र में आयोजित की जाती थीं जब नियमित कॉलेज आधिकारिक रूप से बन्द होता था, या कभी-कभी जब कॉलेज में लगातार एक या दो हफ्ते की छुट्टियाँ होती थीं। उपस्थिति अनिवार्य होती थी। हमारे अध्ययन केन्द्र में ठीक-ठाक सुविधाएँ थीं और अधिकांश प्रयोग अच्छे ढंग से संचालित किए जाते थे तथा उनका व्यक्तिगत रूप से मूल्यांकन होता था। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि मुझे फिर से एक कक्षा के वातावरण का हिस्सा बनने का मौका मिल रहा था और मैंने पूरी तरह से इसका आनन्द उठाया।

कक्षा के मेरे अधिकांश साथी मेरी ही उम्र के थे, जबकि कुछ थोड़े बड़े थे। वे सभी कामकाजी थे, अधिकांश प्रयोगशाला तकनीशियन के रूप में कार्यरत थे। हम लोगों का समूह रोचक था और हम मिलकर खूब मज़ा करते थे, कक्षाओं के दौरान भी और लंच के समय में भी। उन्होंने प्यार से मेरा नाम मामी रख दिया था क्योंकि मैं बिना नागा नियमित रूप से रोज़ दही-चावल लाती थी! हमने अपने प्राध्यापकों को भी कुछ नाम दिए थे। एक प्राध्यापक थे जो रसायनशास्त्र की संकल्पनाएँ जैसे ग्राम मोललता (Molality) और ग्राम मोलरता (Molarity) को समझाने के लिए रोज़मर्रा के उदाहरणों का इस्तेमाल करते थे – जैसे बैंगन सरीखी सब्ज़ियों का



वज़न। हम प्यार से उन्हें "कत्तरिक्का सर" (बैंगन सर) कहते थे।

मेरे प्राध्यापक अक्सर आश्चर्य करते थे कि मैं अपनी डिग्री पत्राचार से क्यों कर रही हूँ। वे हमेशा पहला प्रश्न यही पूछते थे कि "एंगा वर्क पनरिंगा?" (तुम कहाँ काम करती हो?) जब मैं उन्हें बताती थी कि मैं काम नहीं करती बल्कि पीएचई कार्यक्रम में शामिल हूँ, तो यह उन्हें एक खाते-पीते घर की लड़की की निकम्मी सनक-सा लगता था।

जिस चीज़ से मुझे वाकई डर लगता था वह थी चीरफाड़। मेरे सौभाग्य से हमारे जो प्राध्यापक थे वे खुद भी चीरफाड़ पसन्द नहीं करते थे और उन्होंने हमें सारे नमूने पहले से तैयार स्लाइडों पर दिखाए थे। सिर्फ एक बार एक प्रायोगिक कार्य के लिए हमें एक कॉकरोच की चीरफाड़ करनी पड़ी। मेरे दोस्त बहुत आत्मविश्वास के साथ रसायनों और उपकरणों का उपयोग करते थे क्योंकि उनमें से अधिकांश प्रयोगशाला तकनीशियन थे, जबकि मैं नई और घबराई हुई थी। वे पिपेट से अम्लों को ऐसे खींच लेते जैसे नारियल पानी या कोई ठण्डा पेय पी रहे हों!

पत्राचार डिग्री की पढ़ाई करते हुए जो बेहद महत्वपूर्ण बात मैंने सीखी वह थी कि अपने आप पढ़ाई कैसे की जाती है। मुड़कर देखने पर मुझे लगता है कि मैंने इस अनुभव के हर क्षण का मज़ा लिया। किताब के हर पन्ने पर जानने के लिए कुछ नया होता था। हमारी अध्ययन सामग्री नियमित बीएससी पाठ्यक्रम से बेहतर नहीं तो उतनी अच्छी तो थी ही। उसकी विषयवस्तु परिपूर्ण थी और संकल्पनाओं को समझने के लिए बिरले ही मुझे दूसरी किताबों का सहारा लेना पड़ता था। अच्छी अध्ययन सामग्री के साथ स्वाध्याय ने मुझे अपने विषय में ज़बरदस्त आत्मविश्वास, सन्तोष और समग्र जानकारी दी।

पर अपने आप से अध्ययन करना मुझे आसानी से नहीं आया। ऐसा इसलिए क्योंकि हमारे स्कूलों में खुद से पढ़ाई करने का प्रशिक्षण बिलकुल नहीं दिया जाता। सामान्यतः कक्षा में जब शिक्षक किसी संकल्पना को समझाते हैं तो विद्यार्थी विषयवस्तु को आधा-अधूरा और, करीब-करीब हमेशा ही, जड़ भाव से ग्रहण करते हैं। कक्षा के बाद तो बस शिक्षक द्वारा पढ़ाई गई बातों का पुनर्स्मरण करने और परीक्षाओं के लिए आवश्यक विषयवस्तु को रट लेने का महत्व रह जाता है। मेरे मामले में मैं अपनी

शिक्षक भी थी और विद्यार्थी भी। मेरे अन्दर की शिक्षिका विषयवस्तु को समझने के लिए एक बार सामग्री को पढ़कर खुद को तैयार करती थी ताकि फिर वह उसे विद्यार्थी को समझा सके। इसके बाद विद्यार्थी का काम शुरू होता था, वह समझाई हुई चीज़ को पुनः पढ़ती थी, यदि सम्भव हुआ तो उस संकल्पना को दृश्य रूप में देखने की कोशिश करती थी, कुछ और प्रश्न पूछती थी, और उस संकल्पना को आसानी से याद रखने के लिए आसान शब्दों में नोट्स बनाती थी। हालाँकि एक साथ ये दो किरदार निभाना थका देने वाला काम था, पर यह बेहद सन्तोषजनक भी था।

कुछ विषय जैसे जीव-रसायन शास्त्र, भौतिकी और गणित मेरे लिए बहुत कठिन थे, और मुझे पारिवारिक मित्रों तथा स्कूल के शिक्षकों की मदद लेना पड़ी। मैंने उनसे मेरी मदद करने का अनुरोध किया, और उन मॉड्यूलों का अध्ययन करने के दौरान, मैं अलग कक्षाओं के लिए नियमित रूप से उन लोगों के घर जाती थी। उन्होंने विषय के प्रति मेरी समझ को विकसित करने में मदद की और मैं ठीक-ठाक श्रेणी हासिल करने में भी सफल हुई। हालाँकि मैं रोज़ एक घण्टा पढ़ने की कोशिश करती थी, पर विषयों में पूरी तरह से डुबकी तो मैं परीक्षा से एक या दो महीने पहले ही लगाती और दिन में आठ या दस घण्टे तक पढ़ाई करती। मेरी परीक्षाएँ आमतौर पर छुट्टियों के बाद होती थीं, अतः मैं छुट्टियों के दौरान अपने गाँव पहुँचकर हमेशा पढ़ती ही रहती थी। गर्मी, दशहरा, दीपावली की छुट्टियाँ – मेरे लिए ये सभी काम करने के दिन होते थे।

मेरे तीन वर्षीय डिग्री कार्यक्रम का आखिरी सत्र आया और अब मुझे मानव पर्यावरण मॉड्यूल के अन्तर्गत एक प्रोजेक्ट पर काम करना था। चूँकि पिछले तीन साल से मैं बुनाई और वस्त्रों के क्षेत्र में काम कर रही थी, अतः मैंने ऐसा प्रोजेक्ट करने का निर्णय लिया जो खासतौर पर वस्त्रों से सम्बद्ध हो। शायद वस्त्र रंगाई के बाद जो रसायन मिला पानी निकलता है, उसका पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है, जैसा कुछ।

पर मैं शुरुआत कैसे करती? सर्वप्रथम, मुझे एक प्रयोगशाला की ज़रूरत थी और कोई मार्गदर्शक चाहिए था। राजी आंटी और कृष्णन अंकल ने सुझाया कि मैं तारामणि, चेन्नई स्थित एएमएम मुरुगप्पा चेट्टियार अनुसन्धान केन्द्र (एस.सी.आर.सी.) में पूछताछ करूँ। केन्द्र के संस्थापक



निदेशक और कोई नहीं बल्कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक (स्व.) श्री सी.वी. शेषाद्री थे जो ग्रामीण क्षेत्र से सम्बन्धित अपने वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए जाने जाते थे। लगभग पाँच साल पहले एक विद्यार्थी की तरह मैं उनसे थोड़ी-सी देर के लिए मिली थी। हालाँकि वे अब जीवित नहीं थे, मैंने एमसीआरसी के नए निदेशक से मिलने और अपना भाग्य आज़माने का फैसला किया।

मैं बहुत रोमांचित हुई जब मेरा निवेदन स्वीकार कर लिया गया। निदेशक महोदय ने न केवल मुझे प्रयोगशाला का उपयोग करने की अनुमति दे दी, बल्कि मुझे मार्गदर्शन देने के लिए और मेरे प्रोजेक्ट को विकसित करने के लिए मुझे एक शोध वैज्ञानिक, डॉ. पेरूमाल से भी मिलवाया।

चूँकि एमसीआरसी तिरूवान्मियूर के हमारे घर से साइकल की दूरी पर था, इसलिए मैं रोज़ वहाँ आसानी से आ-जा सकती थी।

पहले दिन मैंने वस्त्रों के प्रति अपनी रुचियों के बारे में डॉ. पेरूमाल को बताया। थोड़ी चर्चा के बाद, उन्होंने सुझाया कि रंगाई के अपशिष्ट-प्रवाहों के पर्यावरण पर प्रभावों के अध्ययन के अलावा मैं फिटकरी का इस्तेमाल करके इन अपशिष्ट-प्रवाहों के उपचार पर कुछ प्रयोग कर सकती हूँ। उन्होंने इस उद्देश्य के लिए एक कार्यप्रणाली विकसित करने में मेरी मदद की। मैंने सैद्धान्तिक पक्ष का अध्ययन करने के लिए वहाँ के पुस्तकालय का उपयोग किया और नोट्स बनाए। हमने कुछ कपड़ा इकाइयों के रंगाई के अपशिष्ट-प्रवाह नमूनों का पहले और फिटकरी से उनका उपचार करने के बाद परीक्षण करके उनके जैविक ऑक्सीजन माँग (बीओडी) स्तरों, दुर्गन्ध और रंग के अवशेषों की तुलना करने का निश्चय किया। पर अब असली चुनौती यह थी कि मुझे अपशिष्ट-प्रवाहों के थोड़े-से नमूने कौन देता? डॉ. पेरूमाल ने मुझे अम्बत्तूर की कुछ कपड़ा इकाइयों के बारे में बताया और कहा कि मुझे वहाँ कोशिश करना चाहिए।

मुझे वह गर्म दोपहर अब भी बाकायदा याद है जब मैं बस से अम्बत्तूर औद्योगिक क्षेत्र गई जो शहर के दूसरे छोर पर स्थित है। मैंने पूछताछ शुरू की और आखिरकार उस कपड़ा इकाई तक पहुँच गई जिसे मैं ढूँढ रही थी। मैंने वहाँ के कर्ताधर्ता से मिलने की इच्छा ज़ाहिर की। मैंने अपने उद्देश्यों के बारे में उन्हें बताया। उन्होंने मेरे प्रोजेक्ट दस्तावेज़ देखे व बोलीं, “अरे, असल में हम अपने अपशिष्ट-प्रवाहों का उपचार करते हैं। तो

शायद यह आपके लिए उपयोगी न रहे।" मैंने कहा कि मुझे तो हर हाल में अपशिष्ट-प्रवाहों की ज़रूरत थी और उपचारित वाले भी चलेंगे। "इसकी क्या गारण्टी की आप अपने अध्ययन के नतीजों को सरकारी अधिकारियों को नहीं बताएँगी?" उन्होंने फिर से पूछा। मैंने उन्हें समझाया कि यह सिर्फ एक छात्र प्रोजेक्ट है और कुछ नहीं। उन्होंने मुझसे कुछ और सवाल पूछे और अन्त में अपने सहायक से एक कैन में मुझे कुछ रंगाई के बाद वाला पानी लाकर देने को कहा। जब मैंने उनको बहुत-बहुत धन्यवाद दिया और उनसे विदा ली तो वे बोलीं, "क्या तुम अपने निष्कर्षों को मेरे साथ बाँट सकोगी?" मैंने "हाँ" में सिर हिलाया और हाथ में रंगीन और विषैला पानी लेकर प्रसन्न होते हुए वापस लौट आई मानो वह अमृत हो। जी हाँ, मैंने वह हासिल कर लिया था!

प्रयोगशाला में डॉ. पेरूमाल ने प्रयोग में मेरी मदद करने के लिए अपने एक शोध सहायक से मेरा सम्पर्क करा दिया। जब मैं यह सोच ही रही थी कि मैं किसी दूसरी इकाई से अपशिष्ट-प्रवाह कैसे लाऊँगी, उस सहायक ने कहा कि वह उसकी जानकारी की एक इकाई से कुछ अपशिष्ट-प्रवाह ले आएगा। बस इससे मेरी ज़रूरत पूरी हो गई। उन्होंने प्रयोगों में मेरा मार्गदर्शन करना शुरू किया और जल्दी ही हमने सभी नमूनों का विश्लेषण कर लिया। मैंने रिपोर्ट तैयार करके उस पर डॉ. पेरूमाल के हस्ताक्षर करवाकर उसे समय पर इग्नू में जमा कर दिया। इस पूरी प्रक्रिया में करीब दो महीने लगे।

और अब दिसम्बर आ गया था तथा मैं सत्रान्त की अन्तिम परीक्षाएँ देने जा रही थी। हर सत्र में, एक उचित दिनांक तक, प्रत्येक छात्र को एक परीक्षा आवेदन-पत्र भेजना पड़ता था जिसमें उन विषयों की सूची देना पड़ती थी जिनकी परीक्षाएँ वह देना चाहता था। यदि वह आवेदन-पत्र नहीं भेजा जाता तो मैं उस सत्र की परीक्षा नहीं दे पाती और मुझे अगले मौके के लिए छह महीने और इन्तज़ार करना पड़ता।

वह दीपावली का समय था, अक्तूबर 2000। मैं पाठ्यक्रमों के अन्तिम सैट की तैयारियों में व्यस्त थी। दिसम्बर में परीक्षाओं के सिरदर्द का अन्त हो जाना था!

मैंने सुना है कि विज्ञापन गुरु एलीक पदमसी ने लिरिल साबुन का विज्ञापन पेश करने से पहले बाज़ार का एक सर्वेक्षण किया था जिससे



पता चला कि भारतीय महिलाएँ बाथरूम में सबसे ज़्यादा सुकून में होती हैं। अतः लिरिल के विज्ञापन ने बाथरूम में किसी महिला द्वारा अनुभव किए जाने वाले पूर्ण स्वतंत्रता के इस भाव को भुनाया। शायद यह सच भी है। दिमाग को सुकून देने और शान्ति से सोचने के लिए वाकई कभी-कभी बाथरूम बेडरूम से बेहतर काम देता है।

उस दिन, जब मैं अपना स्नान खत्म करने को थी, मेरी रीढ़ में एक कँपकँपी-सी दौड़ गई। मैं काँप उठी जब मेरे दिमाग में वह बात कौंधी। हे भगवान! मैंने अपना परीक्षा आवेदन-पत्र नहीं भेजा था! वह आवेदन-पत्र मेरे परीक्षा में बैठ पाने के लिए बहुत ज़रूरी था और इस पूरे दौरान मैं इन्हीं परीक्षाओं की तैयारी करती रही थी!

मैं हड़बड़ाकर बाथरूम से निकली और मैंने अपने माता-पिता को सूचित किया। मैं आतंकित हो उठी। हे भगवान! उन कमबख्त परीक्षाओं के लिए और छह महीने का इन्तज़ार नहीं! मैं रोने लगी। मुझे सान्त्वना और सुकून देने के मेरे माता-पिता के प्रयासों का मेरे बहरे कानों और बहते आँसुओं पर कोई असर नहीं हुआ। मेरे अनुमान के हिसाब से विलम्ब से आवेदन जमा करने की आखिरी तारीख (आमतौर पर अन्तिम तिथि के पन्द्रह दिन बाद तक) भी सम्भवतः निकल गई थी। मैं घर में सब पर चिल्लाई और सभी के लिए दीपावली को दुखद बना दिया। अगले दिन बड़े सवेरे मैं अपनी माँ के साथ – मुझे उनके मानसिक सम्बल की सख्त ज़रूरत थी – पहली बस से यह पता लगाने को चेन्नई के लिए निकली कि क्या अभी भी कुछ हो सकता था। निश्चित ही कोई रास्ता होगा... शायद हम उनसे फिर से प्रार्थना कर सकते थे... थोड़ा और दण्ड भर सकते थे... कुछ तो करना ज़रूरी था!

जैसे ही मैं चेन्नई में अपने आवास पर पहुँची मैंने बेताबी से विवरणिका में विलम्ब से आवेदन जमा करने की तारीख की जानकारी खोजना शुरू किया। मेरा खून मेरे सिर में खलबला रहा था। और फिर मुझे वह मिल गई। मेरा दिल धक्क से रह गया.... मेरे पास दो दिन बचे थे! ऐसा लगा जैसे कि यम ने मेरी मौत को अड़तालीस घण्टे के लिए टाल दिया हो! मैं यह सोचने पर मजबूर हो गई कि नियमित कॉलेज वाली स्थिति में ऐसी चूकें नहीं होतीं क्योंकि वहाँ आपको याद दिलाने के लिए दोस्त और शिक्षक होते हैं।

अन्ततः दिसम्बर में मैंने अपनी सारी परीक्षाएँ दीं और धीरे-धीरे उस घातक महीने को पार किया। ऐसा नहीं कि परीक्षा की राह में कोई काँटा नहीं था। मेरा गणित का पेपर बहुत निराशाजनक हुआ था। पर मुझे उसमें पास भर होने की ज़रूरत थी, उतना ही पर्याप्त होता।

चूँकि मेरी पीएचई और इग्नू की डिग्री की पढ़ाई खत्म होने जा रही थी, मैंने राष्ट्रीय फैशन प्रौद्योगिकी संस्थान (एनआईएफटी) में टैक्सटाइल डिज़ाइन और विकास में स्नातकोत्तर कार्यक्रम के लिए आवेदन करने का फैसला किया। जब मैं प्रवेश परीक्षा में बैठी तब भी मेरे मन में यही सन्देह घुमड़ रहा था – क्या मैं बीएससी की गणित परीक्षा में पास हो जाऊँगी?

मैं पास हो गई! बस किसी तरह हो पाई। मैं इतने खराब अंक पाने पर कभी इतनी खुश नहीं हुई थी। यह आश्चर्यजनक बात है कि इतने खराब, अब तक के सबसे कम, अंक पाने पर मुझे उससे ज़्यादा राहत मिली जितनी स्कूल में उच्च स्थान पाने पर मिला करती थी। बीएससी जीव विज्ञान परीक्षा में मेरा योग कुल मिलाकर 75 प्रतिशत था।

कहानी अभी खत्म नहीं हुई है। मेरे स्नातकोत्तर कार्यक्रम में शामिल होने के बाद भी, मुझे विभिन्न मसलों पर इग्नू से अनेक पत्र मिलते रहे। मैं इग्नू का वही सफेद लिफाफा देखकर बहुत ऊब चुकी थी जिसकी पारदर्शी पन्नी में से मेरा छपा हुआ नाम और पता झाँकता रहता था। एक दिन इग्नू का एक अतिरिक्त लिफाफा आया और मैंने उसे भी अनदेखा कर दिया। मेरे कज़िन भाई ने हमेशा की तरह अपने विनोदी अन्दाज़ में लिफाफा

**इतने कम नम्बर पा मैं पहले कभी इतनी खुश न हुई थी।**



फाड़ा और उसके अन्दर से निकले पत्र को ज़ोर से पढ़ने लगा। मैं एक प्रोजेक्ट पर काम कर रही थी और मुझे लगा कि मैंने कुछ सुना... पर वह सच नहीं हो सकता था, बिलकुल नहीं! मैंने उससे वह पत्र छीन लिया और खुद पढ़ा। उसमें लिखा था:

*"हमें आपको यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि जीव विज्ञान में अपनी स्नातक डिग्री को सफलतापूर्वक पूरा करने तथा प्रथम आने के लिए सन् 2000 के स्वर्ण पदक हेतु आपकी अनुशंसा की जाती है..."*

मैं कैसे...?

मैं इग्नू के दीक्षान्त समारोह में शामिल नहीं हो पाई क्योंकि मेरे स्नातकोत्तर कार्यक्रम की कक्षाएँ शुरू हो चुकी थीं। पर अपनी छुट्टियों के दौरान मैं अपना पदक लेने इग्नू के क्षेत्रीय कार्यालय गई। सहायक निदेशक परिचित थे। मैं अध्ययन केन्द्र बदलवाने सहित अपनी पिछली सभी समस्याओं के लिए उन्हीं के पास गई थी और इस बार भी वे शायद सोच रहे थे कि मैं कोई और समस्या बताऊँगी। जब मैंने उन्हें वहाँ आने का कारण बताया, तो वे बहुत खुश हुए। उन्होंने दो बार फोन लगाए और पदक तथा प्रमाण-पत्र मँगवाए।

पदक आया। मैंने उसे देखा। ऐसा लगा कि वह मेरी खिल्ली उड़ा रहा था! उस पर खुदा हुआ था "सुब्रमणियन"। "सुब्रमणियन?" मैंने लगभग रोने जैसी हालत में पूछा, "क्या कोई गलती हुई है... क्या मुझे पदक मिला है?"

सहायक निदेशक ने ध्यानपूर्वक पदक को देखा और फिर बोले, "हमें बेहद खेद है, संयुक्ता जी। पदक बदल गए हैं। लगता है... हमने सुब्रमणियन जी को आपका पदक दे दिया है। हम उनसे सम्पर्क करके पदक ले लेंगे... वे टी.नगर में रहते हैं। इस

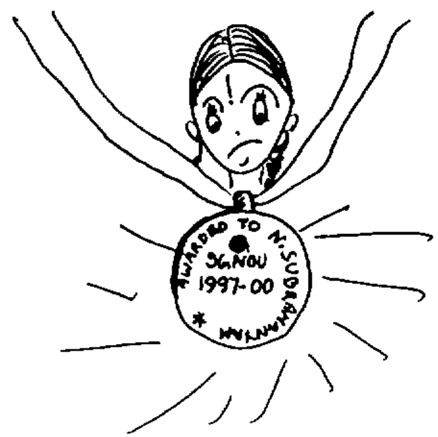


**तमगा मेरी खिल्ली उड़ा रहा था।**

सबके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। आप प्रमाणपत्र अभी ले जाएँ, और हम कोरियर द्वारा पदक भेज देंगे।"

"नहीं, कोरियर से नहीं," मैंने घबराकर कहा। मैं फिर से पदक खोने और नई सफाई सुनने के लिए तैयार नहीं थी। "कृपया उसे मेरी माँ के साथ भेज दें। वे अगले हफ्ते चेन्नई आ रही हैं। मैं उन्हें एक अधिकार-पत्र दे दूँगी," वहाँ से निकलते हुए मैंने उनसे कहा।

क्या रोमांचक अनुभव था वह!

जब मेरी छोटी बहन बारहवीं के बाद अपने आगे के विकल्पों के बारे में सोच रही थी, तो मेरी माँ ने कहा, "तुम भी अपनी डिग्री इग्नू से क्यों नहीं करतीं? तुम्हें भी स्वर्ण पदक मिल सकता है!"

# 7
# आगे क्या?

साढ़े तीन साल के अपने अन्वेषणात्मक कार्यक्रम के बाद अब एक और दिमागी कसरत का समय था।

सवाल लाख टके का था: अब आगे क्या?

मेरी पहली पसन्द थी टैक्सटाइल। मैं डिज़ाइन के आयाम को और विस्तार से जानना चाहती थी क्योंकि न केवल इसमें मुझे रुचि थी और मैं यह करने के लिए खुद को समर्थ महसूस करती थी बल्कि इससे बुनकर समुदाय का भला भी होता। पर मुझे वस्त्र डिज़ाइन की शिक्षा कहाँ से मिल सकती थी?

वस्त्र डिज़ाइन कार्यक्रम उपलब्ध कराने वाले दो संस्थान थे – अहमदाबाद का राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान (एनआईडी) तथा राष्ट्रीय फैशन प्रौद्योगिकी संस्थान (एनआईएफटी)। तीसरा सुझाव यह था कि मुझे विदेश जाकर डिज़ाइन की पढ़ाई करना चाहिए। पर मैं तीन वर्षीय स्नातक डिग्री के बाद उनके स्नातकोत्तर कार्यक्रम में शामिल होने की पात्रता नहीं रखती थी। दो विश्वविद्यालयों ने जवाब में यह सुझाव दिया कि स्नातकोत्तर पढ़ाई करने की बजाय मैं उनके स्नातक कार्यक्रम में शामिल हो जाऊँ। यह सुझाव मुझे नहीं जँचा। मैं दोबारा स्नातक स्तर की पढ़ाई नहीं करना चाहती थी, अतः विदेश में पढ़ने का विकल्प यों समाप्त हो गया।

दूसरा विकल्प था नियमित शैक्षिक पढ़ाई जारी रखना और स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करना। उज़रम्मा की इच्छा थी कि मैं सामाजिक विज्ञान में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त करूँ जिससे विश्वविद्यालय के वातावरण में मेरी विचार शक्ति का "विस्तार और विकास हो?" "डिज़ाइन तो किसी भी समय सीखी जा सकती है, संयुक्ता," उन्होंने सुझाया। "अभी तुम्हारे लिए

ज़रूरी यह है कि तुम सामाजिक विज्ञानों पर ध्यान केन्द्रित करो जिससे विषय पर अच्छा दखल बने और विभिन्न मुद्दों के बारे में विश्लेषणात्मक और व्यवस्थित रूप से सोचने की क्षमता पैदा हो। अच्छी विश्वविद्यालयीन शिक्षा से तुम्हें यह सब मिलेगा।" चूँकि मेरे पिता खुद भी समाजशास्त्री थे, अतः वे उज़रम्मा का दृष्टिकोण समझ गए; वास्तव में वे तो हमेशा से यही चाहते थे कि मैं इतिहास या समाजशास्त्र.... या फिर होम्योपैथी पढ़ूँ! पर उन्हें महसूस हुआ कि अन्ततः मैं जो भी करूँ उसमें मुझे मज़ा आना चाहिए – जहाँ तक उनका सोचना था, यही निर्णायक मसला था।

मैंने कुछ समय के लिए दोनों विकल्प खुले रखे – हालाँकि आगे विज्ञान या सामाजिक विज्ञान में शैक्षिक पढ़ाई करने की बजाय मेरी रुचि निश्चित रूप से वस्त्र डिज़ाइन की तरफ ज़्यादा थी। अतः मैंने एनआईडी और एनआईएफटी, दोनों में वस्त्र डिज़ाइन कार्यक्रम में प्रवेश लेने के लिए, तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू), नई दिल्ली में जीव विज्ञान में स्नातकोत्तर डिग्री हेतु प्रवेश लेने के लिए आवेदन किया।

एनआईडी में मेरे आवेदन को स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि मेरे पास किसी वस्त्र-सम्बन्धी पाठ्यक्रम में स्नातक डिग्री नहीं थी और मैं नए सिरे से किसी चार वर्षीय स्नातक कार्यक्रम में शामिल होना नहीं चाहती थी। चूँकि अब सिर्फ एनआईएफटी का विकल्प बचा था – यदि मैं वस्त्र डिज़ाइन के क्षेत्र में कैरियर बनाने के प्रति गम्भीर थी – मैंने अपने गणित और विश्लेषणात्मक कौशल को चमकाने के लिए एक प्रशिक्षण कार्यक्रम अपनाया। चूँकि जेएनयू की प्रवेश परीक्षा काफी बाद में होने वाली थी, मैंने पहले पूरी तरह से एनआईएफटी की लिखित परीक्षा पर ध्यान लगाने का फैसला किया।

एनआईएफटी की परीक्षा भी आखिरकार हो ही गई, पर मैंने उतना अच्छा प्रदर्शन नहीं किया जितनी मैंने अपेक्षा की थी। सौभाग्यवश, जेएनयू की परीक्षा के लिए अपनी तैयारी शुरू करने के कुछ समय बाद ही मुझे एनआईएफटी प्रवेश परीक्षा के नतीजे मिले – मैं लिखित प्रवेश परीक्षा में उत्तीर्ण हो गई थी! यह बहुत राहत की बात थी, पर अब दो और महत्वपूर्ण चरण थे जिनके बाद ही मुझे प्रवेश मिल पाता।

"अगर मेरा चयन नहीं हुआ तो क्या होगा?"



चूँकि अभी भी कुछ हद तक यह संशय बना हुआ था, मैंने दस्तकार आन्ध्र जैसी संस्थाओं या फिर किसी स्वतंत्र वस्त्र डिज़ाइनर के साथ जुड़ने की मानसिक तैयारी शुरू की ताकि मैं टैक्सटाइल की अपनी रुचि को लेकर आगे बढ़ सकूँ, भले ही मुझे किसी नियमित कॉलेज में प्रवेश मिले या न मिले। यह एक बार फिर से भावनात्मक खलबली का समय था जिसमें बहुत सारे "किन्तु-परन्तु" शामिल थे। पर अपने माता-पिता के साथ कुछ खुली चर्चाओं ने और उनसे लगातार मिलने वाले समर्थन और हौसलाअफज़ाई ने मेरे लिए चीज़ों को आसान बना दिया। मैंने जेएनयू प्रवेश परीक्षा की तैयारी करना जारी रखा, अलबत्ता आधे मन से।

जल्दी ही मुझे एनआईएफटी, नई दिल्ली में "परिस्थिति परीक्षा" के लिए बुलाया गया। यह प्रवेश पाने का दूसरा चरण था। "परिस्थिति परीक्षा" में प्रत्येक प्रवेशार्थी को कुछ बुनियादी सामान दिए जाते हैं जैसे कागज़ का कप और प्लेट, कुछ कागज़, गोंद, कैंची और पीने की नलियाँ जिनसे उसे या तो विश्वसुन्दरी का ताज बनाना होता है या फिर विश्व शान्ति कप। साथ ही हमें वहाँ प्रदर्शित एक स्थिर वस्तु-समूह का चित्र बनाने को कहा गया जिसे हममें से प्रत्येक अलग-अलग जगह से देख रहा था।

फिर साक्षात्कार की बारी आई। यह सोचते हुए कि अब मुझे पिछले तीन सालों के सभी बुनाई कार्यों और नमूनों को दिखाने का मौका मिलेगा, मैं साक्षात्कार में पूरी तैयारी के साथ गई। पर वहाँ जो हुआ वह बिलकुल ही भिन्न था।

चूँकि मेरे बायो-डाटा (आत्म-परिचय) से यह पता चलता था कि मेरी एक रुचि रंगमंच भी थी, एक प्रश्नकर्ता ने मुझसे फिल्म "नायिका" से तमिलनाडु की मुख्यमंत्री बनीं जयललिता की नकल करने को कहा। एक अन्य ने मुझसे कोई चुटकुला सुनाने को कहा। मैं चुटकुले सुनाने के मामले में बहुत बुरी हूँ और मुझे उस क्षण कोई अच्छा चुटकुला ध्यान में भी नहीं आया तो मैंने खुद के साथ हाल ही में हुई एक मज़ेदार घटना ही सुना दी। टैक्सटाइल से जुड़े छिटपुट सवालों के अलावा, अभी तक भी मुझे बुनाई के अपने कार्यों को दिखाने या उनके बारे में बताने का मौका नहीं मिला था। जब मैं यह सोच रही थी कि क्या मुझे खुद से यह बात उठाना चाहिए, तभी एक प्रश्नकर्ता ने आखिरकार पूछा, "क्या वस्त्र डिज़ाइन के अलावा आप दूसरे विकल्प की तरह कोई और विषय पढ़ना चाहती हैं?"

मैं भौंचक्की रह गई। क्या मेरा साक्षात्कार खत्म हो गया था? अभी तक तो उन्होंने सिर्फ मेरी रंगमंच की कलाकारी ही देखी थी! वे मेरे साथ ऐसा नहीं कर सकते थे। "पर...," मैं हकलाई।

"हम आपके बारे में नकारात्मक निर्णय ले चुके हैं। तो यदि आप एनआईएफटी में कोई अन्य पढ़ाई करना चाहती हों – सहायक फैशन-सामग्री डिज़ाइन, चमड़े का काम, बुने हुए वस्त्र...?" प्रश्नकर्ता ने फिर से मेरी ओर देखा।

"नहीं, धन्यवाद," मैंने दृढ़तापूर्वक कहा। "मैं केवल वस्त्र डिज़ाइन ही पढ़ना चाहती हूँ।" अन्दर मैं क्रोध से उबल रही थी।

"अब आप क्या करेंगी?" एक अन्य प्रश्नकर्ता ने पूछा। "क्या आपके पास कोई अन्य विकल्प है?"

"मैंने एनआईडी में भी आवेदन किया था, पर उसे स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि इसके लिए मेरे पास टैक्सटाइल सम्बन्धी विषय में अपेक्षित डिग्री नहीं थी," मैंने उत्तर दिया। "मैं किसी वस्त्र डिज़ाइनर के साथ काम कर सकती हूँ। मैं कुछ विकल्पों के बारे में सोचूँगी, पर मैं वस्त्र डिज़ाइन ही करूँगी। धन्यवाद।"

चेहरे पर ऐसी बड़ी नकली मुस्कुराहट के साथ, जो सौन्दर्य प्रतियोगिताओं की प्रतियोगियों के चेहरों पर आदतन रहने वाली मुस्कान से मुकाबला कर सकती थी, मैं तेज़ी से बाहर निकल गई। हैरानी की बात थी कि जहाँ मुझे यकीन था कि मेरे चुने जाने की कोई सम्भावना नहीं थी, वहीं बाकी दुनिया की सोच इससे एकदम उलट थी। और आखिर में वे लोग सही साबित हुए।

मेरी जेएनयू परीक्षा के बस दो दिन पहले मुझे टैक्सटाइल डिग्री कार्यक्रम में अपने प्रवेश के बारे में एनआईएफटी की तरफ से सकारात्मक समाचार मिला! मैं बहुत रोमांचित थी। पर मैंने जेएनयू की परीक्षा दी। हालाँकि मेरा चयन नहीं हुआ।

जुलाई 2000 में, मैं एनआईएफटी, हैदराबाद में ढाई साल के वस्त्र डिज़ाइन कार्यक्रम में स्नात्कोत्तर डिप्लोमा हेतु दाखिला लेने वाले पहले बैच का हिस्सा थी। एनआईएफटी उस दुनिया से पूर्णतः भिन्न थी जिसे मैं जानती थी। वह शहर की फैशनपरस्त तथा आधुनिक जगह थी और



वहाँ कॉलेज जीवन से मेरा पहला वास्ता पड़ा।

मुझे पाठ्यक्रम बहुत रोचक लगा और मैं रोज़ अपनी कक्षाओं में जाने के लिए उत्सुक रहती थी। चूँकि हम लोग पहला बैच थे इसलिए कुछ प्रारम्भिक समस्याएँ आईं। पर इसके भी अपने फायदे थे। कुछ ही महीनों में मैं कक्षा के अपने साथियों के साथ घुल-मिल गई। अब पीछे देखते हुए मैं यह मान सकती हूँ कि किसी भी अन्य संस्थान की तरह एनआईएफटी की शिक्षा में भी ज़रूर कुछ खामियाँ थीं। पर मेरे लिए महत्वपूर्ण यह था कि वहाँ जो उपलब्ध था उसमें से सर्वश्रेष्ठ ग्रहण करूँ। इस सकारात्मक रुख के साथ मेरे लिए इस पढ़ाई में आगे बढ़ना काफी आसान रहा। मैं काफी अच्छा कर सकी और अन्ततः मुझे हैदराबाद केन्द्र से शैक्षिक उत्कृष्टता के लिए पुरस्कार मिला!

# 8
# सब कैसे सम्भव हुआ

## प्रोत्साहन देने वाला घर

जिस क्षण से मैंने अलग राह चुनने का फैसला किया, तभी से मुझे अपने माता-पिता, खासकर अपनी माँ से जो प्रोत्साहन मिला, वह मेरे लिए सबसे महत्वपूर्ण रहा है। वे मेरे हर तरह के उतार-चढ़ाव के दौरान निर्णय लेने की प्रक्रिया का हिस्सा थे और मेरी हिम्मत और आत्मविश्वास का प्रमुख स्रोत थे। यह सोचना हमेशा ही आश्वस्त करता कि "हाँ, मेरे माता-पिता मेरे साथ हैं।"

मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के सभी व्यावहारिक पक्षों में सबसे बड़ा योगदान उस परिवार का था जिसके साथ मैं अपनी पढ़ाई के साढ़े तीन सालों के दौरान रही, खासतौर पर उस बहुत ही खास शख्सियत, राजी आंटी का। वे हमेशा मेरे लिए प्रस्तुत रहती थीं – शारीरिक रूप से, भावनात्मक रूप से और आत्मिक रूप से।

मेरे स्कूल से लौटने के बाद उनका बस इतना पूछना होता था, "तो आज क्या हुआ?" और मैं बिना रुके बोलती चली जाती थी कि बुनाई और कला कक्षाओं में आज क्या हुआ, कैसे मैं साइकिल से गिरते-गिरते बची, कि स्कूल का साम्भर-चावल कितना बेस्वाद था और उसकी तुलना में उनके हाथ का बना रसम कितना स्वादिष्ट होता था। राजी आंटी रसोई में काम करते हुए सिर हिलातीं और कभी-कभार एक "हूँ... अप्पडिया? (क्या वाकई?)" के साथ मेरी बातें सुनती रहतीं। उन्हें रोज़ दो बार गप्पों के सत्र झेलना पड़ते – एक मुझसे तथा दूसरा उनकी बेटी आर्या से जो रसोई में आते-जाते हुए इतिहास और जीव विज्ञान से लेकर तमिल तक के अपने सभी स्कूली विषयों के प्रश्नों के उत्तर उन्हें सुनाती थी।

आर्या रसायन शास्त्र या जीव विज्ञान के अपने प्रश्नों को लेकर कभी-कभी मेरे पास आती। हम अक्सर साथ-साथ चलते हुए संगीत कक्षा में जाते। रास्ते में अधिकांश बातें मैं ही करती थी। वह बहुत स्नेही थी और मेरे साथ अपनी सभी चीज़ें बाँटती थी। उसके लेख, निबन्ध और कहानियाँ शानदार होते थे और जब वह अपनी रचनाएँ अपनी माँ को सुनाती थी तो मैं उसके लेखन कौशल की सराहना करती थी।

जब भी हमारे घर मेहमान आते थे तो राजी आंटी उनसे मेरा परिचय यह कहते हुए करवाती थीं, "यह संयुक्ता है, हमारे मित्र की बेटी। यह अपनी शिक्षा के लिए कुछ अलग कर रही है।" इसके बाद मैं बात आगे बढ़ाती और उन्हें समझाती कि सिर्फ कॉलेज जाने में समय बिताने की बजाय मैं क्या कर रही थी। दो ही महीनों में ऐसे अनेक परिचयों के चलते मैंने लगभग बारह मिनटों में अपने पूरे कार्यक्रम को "सुना" देने की कला हासिल कर ली थी! मेरी कहानी को लेकर हमेशा लोगों की मिश्रित प्रतिक्रियाएँ होती थीं। कुछ इसे रोमांचक मानते थे। तो कुछ अनिश्चय से सिर हिला देते थे। कुछ इसे रोचक मानते थे और शायद कुछ लोग यह भी सोचते थे कि मैं अपना समय ज़ाया कर रही थी।

ऐसी परिस्थिति में राजी आंटी और देवा आंटी तुरन्त मेरे समर्थन में आगे आ जातीं। "आपको पता है यह पिछले महीने नर्मदा घाटी गई थी...", "... और इस तौलिए को देखिए, यह इसने हमारे लिए अपने हाथों से बुना है।" वे लोग बहुत विश्वास और गर्व के भाव से ऐसी बातें कहतीं।

मुझे राजी और देवा आंटी को तथा अपने माता-पिता को कुछ भी साबित करके नहीं दिखाना था। उन लोगों का मुझमें विश्वास ही पर्याप्त सबूत था कि मैं सब ठीक-ठाक कर रही हूँ।

## धन सम्बन्धी मसले

लोग अक्सर मुझसे पूछते हैं कि जो मैंने किया उसे करने में कितना पैसा लगा और क्या द स्कूल ने मुझसे कोई शुल्क लिया। लेखा विभाग की संक्षिप्त झलक यहाँ प्रस्तुत है-

"द स्कूल" ने इस कार्यक्रम के लिए कोई शुल्क नहीं लिया और उनके द्वारा मुझे शुरू में ही बता दिया गया था कि कोई भी वित्तीय व्यवस्थाएँ करना



मेरे और मेरे शिक्षकों के ऊपर है। यह स्कूल प्रशासन की उदारता थी कि वे दोपहर का खाना मुफ्त प्रदान करते थे। मुझसे केवल इतना कहा गया कि, "आप बस एक अतिरिक्त व्यक्ति हैं... हम वैसे भी सबके लिए खाना बनाते हैं।"

वास्तव में हुआ यह कि अधिकांश शिक्षक, जिनके साथ मैंने काम करने का निश्चय किया, वेतनभोगी अध्यापकों की तरह से स्कूल का हिस्सा थे और उन्होंने मुझसे किसी भी तरह का व्यक्तिगत शुल्क लेने से मना कर दिया। खासतौर पर मेरे कला शिक्षक, तरित अन्ना और मेरे बुनाई उस्ताद, शंकरन अन्ना के बारे में यह बात बिलकुल सच है। अपनी नृत्य कक्षाओं के लिए ज़रूर मैं लगभग 200 रुपए का मासिक शुल्क देती थी, जबकि मेरी संगीत कक्षाओं के लिए कोई पैसा नहीं लगता था क्योंकि मेरी शिक्षिका की यह नीति थी कि संगीत शिक्षा से पैसा नहीं बनाना है। ऑरीगैमी शिक्षक, श्री नटराजन के साथ मेरा वास्ता लगभग तीन हफ्ते रहा; उन्होंने भी मुझसे कोई पैसा नहीं लिया। चेन्नूर का पूरा प्रसंग भी निःशुल्क ही रहा क्योंकि मेरे मेज़बान सत्यनारायणगारू ने मुझे "किराएदार" मानने से इन्कार कर दिया और लगभग यही ओधन्ना और उसके परिवार ने किया जिनसे मैंने बुनकरी सीखी। इग्नू का वार्षिक शुल्क लगभग 1200 रुपए था जिसमें अध्ययन सामग्री की कीमत शामिल थी। यातायात का सारा खर्चा मेरे जेब खर्च से हुआ।

इन सभी परिस्थितियों में मैंने अपना "शुल्क" नकद की बजाय किसी चीज के रूप में प्रदान किया। यह मेरे द्वारा बुनी हुई, चित्रित या रची गई कोई वस्तु हो सकती थी; उत्सवों के लिए नए कपड़े हो सकते थे; या हमारे गाँव के खेत में उत्पन्न कृषि उत्पाद हो सकता था।

मैंने अक्सर खुद से पूछा है कि क्या उच्च शिक्षा हासिल करने का यह तरीका किसी भी छात्र के लिए, फिर चाहे उसकी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो, वाकई एक "विकल्प" साबित हो सकता था? या क्या मैं यह सब इसलिए कर पाई क्योंकि मेरे अधिकांश शिक्षकों ने मुझसे कोई शुल्क नहीं लिया?

यदि मैं अपनी बात करूँ, तो निश्चित रूप से मैंने इस कार्यक्रम को तब भी पूरा किया होता अगर इसमें बहुत ज़्यादा खर्च और शुल्क लगता।

आखिरकार, जब मैंने यह राह चुनी थी, तब मुझे यह नहीं पता था कि मेरे शिक्षक कौन होंगे और उनका शुल्क क्या होगा। निश्चित ही मेरे लिए यह बात मददगार रही कि मुझे अपने माता-पिता का समर्थन मिला जिन्होंने सोचा कि अपनी बेटी को शिक्षित करने के लिए उसे किसी नियमित कॉलेज कार्यक्रम में धकेलने की बजाय बेहतर विकल्पों पर पैसा खर्च किया जा सकता था।

अन्त में, उच्च शिक्षा की इस खोज की वित्तीय ज़रूरतें नियमित डिग्री कॉलेज कार्यक्रमों के जैसी ही प्रतीत हुईं। बल्कि ये ज़रूरतें उनसे कम ही थीं। जिस तरह कॉलेजों में विभिन्न डिग्री पाठ्यक्रमों और उनके शुल्कों में फर्क होता है, उसी तरह यहाँ भी खर्च इस बात पर निर्भर करेगा कि आप किन क्षेत्रों में, कैसे और कहाँ से शिक्षा हासिल करना चाहते हैं। और यह निर्भर करेगा इस बात पर कि आप अपने शिक्षक और अपने आस-पास के लोगों से कैसा रिश्ता बना पाते हैं।

आज मैं निश्चित रूप से यह मानती हूँ कि कम से कम मेरे जैसे मध्यम वर्ग के युवाओं के लिए आर्थिक दृष्टि से यह बहुत वहनीय रास्ता है। पर ज़्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वित्तीय रूप से इस खर्च को वहन कर सकने के काबिल होने पर भी क्या हम वाकई उच्च शिक्षा के खोजी मार्ग पर चलने का जोखिम उठाएँगे।

## अन्त और शुरुआत

यदि कोई विद्यार्थी अपनी राह खोजने के लिए हाई स्कूल और कॉलेज के बीच एक साल का अन्तराल करता है तो क्या इसका मतलब यह है कि उसने "एक साल बर्बाद कर दिया है"? क्या इसका यह अर्थ है कि ऐसे लड़के या लड़कियाँ उनकी आयु वर्ग के अन्य लोगों से एक साल पिछड़ जाने का जोखिम उठाते हैं? ऐसा लगता है कि भारतीय विद्यार्थियों और उनके पालकों को होने वाली यह आम चिन्ता (जो मैंने भी अंशतः महसूस की थी) बिना पूछे ही पहले से तयशुदा उत्तर दे देती है कि "हाँ, ऐसा ही है!" मैं अब देख पाती हूँ कि यह चिन्ता बिलकुल भ्रामक है।

पहली बात तो यह है कि सच्ची खोज का अर्थ व्यर्थ समय बिताना नहीं है। बल्कि यह तो अपनी गहरी रुचियों की राह पर ज़्यादा सचेत और प्रभावी रूप से आगे बढ़ने के लिए समय का उपयोग करना है। शायद



हमारी स्कूली व्यवस्था ने हमें कक्षा की समय-सारणियों और थाल में परोसे गए पाठ्यक्रमों पर इतना निर्भर बना दिया है कि उनके बिना हमें अपने समय का व्यवस्थित उपयोग करना नहीं आता। यह जीवन की एक महत्वपूर्ण कला है जो मैंने उन सालों के दौरान सीखी।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इस राह ने मुझे ऐसे मुकाम तक पहुँचाया जहाँ से मैं और मेरी ज़िन्दगी, दोनों बदल गए, न केवल एक आत्मसन्तोष देने वाले कैरियर हासिल करने की दृष्टि से, बल्कि दूसरे कई अमूर्त तरीकों से भी। यदि मैं किसी नियमित कॉलेज में गई होती तो शायद मैंने बुनाई में कभी हाथ नहीं आज़माया होता। और शायद, न ही मैंने वस्त्रों और बुनकर समुदाय के प्रति अपने प्रेम को जाना होता। जब मैं एनआईएफटी के वस्त्र डिज़ाइन कार्यक्रम में दाखिला लेकर मुख्यधारा में वापस आई तो मैं पहले से ही आश्वस्त थी कि यह कार्य आजीवन बना रहने वाला प्रेम था, न कि सिर्फ एक पाठ्यक्रम जिसके लिए मैंने अभी एक प्रवेश परीक्षा के द्वारा पात्रता हासिल की थी।

पीछे देखते हुए मैं पाती हूँ कि उन सालों में मैंने जो किया वह वास्तव में प्रशिक्षणों की एक शृंखला थी, जिसके भीतर अलग-अलग क्षेत्रों को चुनने की स्वतंत्रता निहित थी। वास्तव में किसी मार्गदर्शक के साथ प्रशिक्षण हासिल करना शताब्दियों से युवा लोगों के लिए आजीविका सम्बन्धी हुनर सीखने का स्वाभाविक तरीका रहा है – बढ़ई, किसान, चित्रकार, लेखक, वैज्ञानिक, दुकानदार, इंजीनियर, व्यवसाई, और हाँ बुनकर भी – सभी पर यह बात लागू होती है। बल्कि, आज के कॉलेजों में भी इसे आवश्यक "प्रशिक्षुता", "व्यावहारिक प्रशिक्षण" या "प्रोजेक्ट" के रूप में जगह दी जाती है, यद्यपि अब तो इन पर भी पाठ्यक्रम और कक्षा-अध्ययन हावी होते जा रहे हैं। मैंने तो बहुत अच्छे गुरुओं के मार्गदर्शन में लिए गए प्रशिक्षण का पूरी तरह से आनन्द उठाया।

मेरे उच्च शिक्षा के साढ़े तीन सालों में जो अनुभव और लोग शामिल रहे, उन्हें मैं सबसे मूल्यवान मानती हूँ। निश्चित ही, यह तर्क दिया जा सकता है कि ऐसे अनुभव इस तरह की गैर-पारम्परिक शिक्षा में ही हों, यह ज़रूरी नहीं है। दूसरी जगहों पर भी ऐसे अनुभव हो सकते हैं।

फिर इस सफर में महत्वहीन सी लगती हुई "पहली बार" होने वाली वे चीज़ें भी हुईं – जैसे रेलवे टिकट बुक कराना, ट्रेन में अकेले यात्रा करना,

अनजान लोगों के समक्ष किसी सामाजिक मुद्दे पर बोलना – इन सबसे मुझे बहुत आत्मविश्वास मिला।

फिर भी, यदि मैं खुद से पूछूँ कि, "तुमने वाकई क्या सीखा?" तो उत्तर मेरी झोली में ऐसी सुन्दरता से गिरते हैं, जैसे स्वर्ग से कुछ दैवी पत्तियाँ झर रही हों।

सबसे पहले तो, इस तरह की पढ़ाई ने मुझे स्वतंत्रता और आत्मविश्वास का एहसास दिया – कि मैं न सिर्फ खुद को शिक्षित करने के कार्य को अपने हाथ में ले सकती थी, बल्कि अपने समय को भी ऐसे तरीकों से व्यवस्थित कर सकती थी जिनसे मुझे आनन्द मिले, जिन्हें मैं सराह सकूँ और जिनका मूल्य समझ सकूँ।

दूसरे, मेरी उच्च शिक्षा मेरे जीवन और व्यक्तित्व से इस तरह जुड़ गई कि मैं उन्हें असम्बद्ध या पृथक बातों की तरह नहीं देखती थी। शिक्षा रोज़ की दिनचर्या का हिस्सा हो गई और उसका किसी खास पाठ्यक्रम या कक्षा तक सीमित होना ज़रूरी नहीं रह गया था। विभिन्न संस्कृतियों और पृष्ठभूमियों से आने वाले अलग-अलग तरह के लोगों के साथ लगातार मिलने-जुड़ने ने मेरी शिक्षा और मेरे दृष्टिकोण में अत्यन्त सकारात्मक योगदान दिया, कभी-कभी सूक्ष्म तरीकों से भी।

तीसरे, इस कार्यक्रम में बहुत अधिक स्वतंत्रता थी – फिर भी अपने कार्य में ऊर्जा और आत्मा लगा सकने के लिए व्यक्ति को अपने भीतर एक दिशा, वचनबद्धता और तत्परता का भाव विकसित करने की ज़रूरत पड़ती है। यह क्षमता विकसित करने की भी ज़रूरत होती है कि आप दूर हटकर, तटस्थ हो, यह देख सकें कि वह दिशा आपको अन्ततः कहाँ ले जाएगी। पीएचई करते समय यह मेरे लिए सबसे बड़ी चुनौती थी, और आज भी जो कुछ मैं करती हूँ उसमें भी यही मेरे लिए चुनौती होती है।

देवदूत ज़रूर मुस्कुरा रहे होंगे और मैं भी मुस्कुरा रही हूँ।

# शब्दावली

अडवुः बुनियादी लयबद्ध शारीरिक गतिविधियाँ और हस्त मुद्राएँ, जिनके संयोजनों से नृत्य कथाक्रम बनाए जाते हैं।

आलापः राग का सुरीला आशुचित्रण – किसी भी बद्ध रचना या लय से असम्बद्ध राग का वह स्वर-चित्र जिसमें उसकी विशेषताओं को उभारा जाता है।

अलरिप्पूः किसी नृत्य सभा की प्रारम्भिक प्रस्तुतियों में से एक जिसमें देवताओं का आह्वान किया जाता है ताकि उनके आशीर्वाद से प्रदर्शन अच्छा हो; नृत्य की मुद्राएँ किसी खास ताल में निबद्ध नृत्य के बोलों को प्रदर्शित करती हैं।

कर्नाटक संगीतः भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक प्रकार।

कल्पना स्वरम्ः किसी खास राग पर आधारित स्वरों के संयोजनों की तत्काल प्रस्तुति, जो किसी कृति के प्रदर्शन का हिस्सा होता है – आमतौर पर बोल पूरे होने के बाद।

कंजीरा (इसे गन्जीरा भी कहा जाता है)ः दक्षिण भारतीय मढ़ा हुआ ढोलक जो डफली परिवार का एक वाद्य होता है और इसे ताल वाद्य के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है।

कृतिः कर्नाटक संगीत रचना का एक रूप। इसमें सामान्यतः तीन वर्ग होते हैं – पल्लवी, अनुपल्लवी और चरण। यह किसी भी संगीत सभा की रीढ़ होता है।

करघाः सूत को बुनकर कपड़ा तैयार करने वाला यंत्र।

खादीः हाथ से कता हुआ और हाथ से बुना हुआ सूती कपड़ा।

गड्ढे वाला करघाः भारत के पारम्परिक और सर्वाधिक इस्तेमाल होने वाले करघों में से एक। इसे फर्श में खोदे गए एक गड्ढे के ऊपर रखा जाता है। बुनकर फर्श पर ढाँचे के साथ बैठता है और उसके पैर गड्ढे में होते हैं ताकि वह करघे के पैडलों को चला सके।

गीम्: शास्त्रीय गाने। ये उन पहली रचनाओं में से हैं जिन्हें किसी विद्यार्थी को कर्नाटक शास्त्रीय संगीत की बुनियादी बातें सीखने के बाद सिखाया जाता है।

गुरुकुलः आवासीय विद्यालय का प्राचीन भारतीय प्रकार जहाँ गुरु (शिक्षक) और विद्यार्थी इकट्ठे रहते थे। वहाँ की शिक्षा में जीवन के सभी पक्ष समाहित होते थे।

घटम्: मिट्टी का घड़ा जिसे कर्नाटक संगीत में ताल वाद्य के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। कलाकार घटम् की बाहरी सतह पर अपनी उँगलियों, अँगूठे, हथेली, हाथ व कलाई के जोड़ का इस्तेमाल करता है।

चरखाः हाथ से घुमाया जाने वाला चक्का जिस पर ऊन या कपास जैसे रेशों से धागा बनाया जाता है।

जैकार्डः करघे पर लगने वाला एक मशीनी उपकरण जिसका आविष्कार सन् 1801 में जोसेफ मारी जैकार्ड ने किया था। इसमें कपड़े पर होने वाली बहुत जटिल रचनाओं की बुनाई को नियंत्रित करने के लिए पेस्टबोर्ड पंच कार्डों के छेदों का इस्तेमाल किया जाता है।

जतिः किसी खास ताल पर आधारित अडवुओं (बुनियादी नृत्य भंगिमाएँ) के विभिन्न संयोजन।

जतिस्वरमः किसी खास राग में सिर्फ स्वरों पर आधारित नृत्य रचना जिसमें बोल नहीं होते।

ज़रीः पारम्परिक रूप से महीन सोने या चाँदी से बना धागा। इसे रेशम के साथ बुना जाता है ताकि रेशमी वस्त्रों के सुसज्जित नमूने बनाए जा सकें।

टसरः एक प्रकार का "जंगली" रेशम जो शहतूत के रेशम से मोटा होता है।



डॉबीः करघे से जुड़ा हुआ मशीनी उपकरण, जटिल डिज़ाइनें बुनने के लिए जिसका इस्तेमाल किया जाता है।

तकलीः परम्परागत लमछड़, या लकड़ी की नुकीली छड़, जिसके एक सिरे पर गोलाकार चक्कर के रूप में वज़न लगा रहता है। इसका इस्तेमाल ऊन और दूसरे रेशों से धागा कातने के लिए होता है।

तालः भारतीय शास्त्रीय संगीत का लयबद्ध स्वरूप जो किसी रचना के लयात्मक ढाँचे को निर्धारित करता है। प्रत्येक रचना किसी खास ताल पर आधारित होती है।

तम्बूराः तानपुरा। इसके तार छेड़कर गायक या वादक के लिए स्वरमान बनाए रखा जाता है।

तपोवनः ज्ञानियों द्वारा तपस्या, और आध्यात्मिक समाधि के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला वन।

तानाः करघे पर लम्बाई में रखा जाने वाला धागा जो कपड़े की लम्बाई को तय करता है।

तनि आवर्त्तनम्: किसी संगीत सभा का वह हिस्सा जो ताल-वाद्य वादकों के लिए आरक्षित रहता है ताकि वे ताल के जटिल स्वरूपों की प्रस्तुति दे सकें और अपनी कला का प्रदर्शन कर सकें।

पिर्नः गाजर के आकार का एक छोटा-सा यंत्र जिस पर बाने के धागे को लपेटा जाता है। इसे फिर शटल पर रखा जाता है और जब शटल ताने के आड़े में आगे-पीछे जाता है तो यह बाने के रूप में बुनता जाता है।

पूनीः साफ किए गए रेशे का पिण्ड जिसका धागा कातने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

बानाः यह धागा ताने के साथ आड़ी दिशा में गूँथा जाता है और इसी से कपड़ा बुनता है।

ब्रोकेड (ज़री का काम): शटल द्वारा बुने गए, खूब सजावट वाले कपड़े जो अक्सर रंगीन रेशम में बनाए जाते हैं और उन पर सोने व चाँदी के धागों का काम होता है।

बॉबिनः फिरकी, जिस पर ताने को करघे पर चढ़ाने से पहले लपेटा जाता है।

मैक्रामेः वस्त्र बनाने का एक प्रकार जिसमें बुनाई या सिलाई की बजाय गाँठधार धागे से काम होता है। इसमें इस्तेमाल होने वाले आम पदार्थ हैं – कपास का धागा, जूट और चमड़ा।

मामीः अँग्रेज़ी के "आंट" को तमिल में बोलचाल में मामी कहा जाता है। इसमें रिश्तेदारी का सम्बन्ध होना ज़रूरी नहीं है।

मृदंगः दक्षिण भारत का, गोल पीपे के आकार का, ढोलक जैसा ताल वाद्य। आमतौर पर किसी कर्नाटक गायन या वादन सभा में इसका इस्तेमाल होता है।

रागः भारतीय शास्त्रीय संगीत की स्वर रचना, जिसमें उठते हुए और गिरते हुए स्वरों का कोई निर्धारित मिश्रण होता है। इन स्वरों के क्रम परिवर्तनों और संयोजनों को कुछ खास नियमों के अन्तर्गत इस्तेमाल करके किसी संगीत रचना में माधुर्य पैदा किया जाता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में विविध प्रकार के राग हैं।

रुद्राक्षः एक बीज (एलैओकारपस जैनिट्रस); इन्हें आमतौर पर धागे में पिरोकर जापमाला बनाई जाती है। इसे हिन्दुओं, खासतौर पर शिव के भक्तों, द्वारा मंत्रोच्चार या प्रार्थना करते समय इस्तेमाल किया जाता है।

स्वरः भारतीय शास्त्रीय संगीत का स्वर। इसके सात स्वर स, री (हिन्दुस्तानी में रे), ग, म, प, द (हिन्दुस्तानी में ध) और नि द्वारा निरूपित किए जाते हैं।

सभाः एक बैठक जहाँ सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रदर्शित किए जाते हैं।

शटलः बाने की बुनाई के लिए इस्तेमाल होने वाला यंत्र। इसको ताने के धागों के बीच में से आगे-पीछे चलाकर बाना बुना जाता है।

---

# आभार

यदि कोई 24 वर्ष की आयु में एक किताब लिखना चाहे तो उसके पास या तो विभिन्न चरित्र और परिस्थितियाँ तथा सोचने के लिए बेहद कल्पनाशील दिमाग होना चाहिए। एक खूबसूरत शैली होनी चाहिए या भाषा पर अच्छी पकड़। या फिर उसने कुछ ऐसी चीज़ अर्जित की हो जो इस योग्य हो कि उसके बारे में लिखा जाए और उसे लोगों के साथ बाँटा जाए। यह किताब लिखने के बाद मुझे लगता है कि इसके पृष्ठों में चर्चित लोगों ने ही मुझे इस किताब को लिखने योग्य बनाया। मैं उन सबके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे प्रेरित किया और अपने अनुभवों तथा सहचर्य द्वारा इन पन्नों को समृद्ध बनाया, कभी-कभी अनदेखे और ऐसे तरीकों से भी, जिन्हें समझाया नहीं जा सकता। मेरे माता-पिता का विशेष उल्लेख करना ज़रूरी है क्योंकि उन लोगों ने पहले तो इस तरह के विकल्प के बारे में सोचने का साहस दिया और फिर मुझे व्यावहारिक और भावात्मक बाधाएँ पार करने में मदद की।

जब मैंने अपने कार्यक्रम की शुरुआत की तो अदर इण्डिया प्रेस (ओआईपी) के सम्पादक और पारिवारिक मित्र क्लॉड एल्वैरेस ने ज़ोर दिया कि मैं नियमित रूप से डायरी लिखा करूँ ताकि आगे चलकर मैं अपने अनुभवों पर कोई किताब लिख सकूँ जो शायद उस महत्वपूर्ण आयु वर्ग के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हो। इस सुझाव के लिए मैं उनको धन्यवाद देती हूँ।

मुझ जैसी नौसिखिया लेखिका को अच्छे सम्पादकों की मदद की ज़रूरत थी। ओआईपी की नॉर्मा एल्वैरेस और मेरे दोस्त अरविन्द पिल्लालामर्री ने विषयवस्तु और भाषा को पुष्ट बनाने के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया। मेरे स्नेही पति किरण ने सर्वाधिक आलोचनात्मक सम्पादक की भूमिका अपनाई। वे इस किताब के पन्नों में वर्णित अलग-अलग घटनाओं के

दौरान मुझे ठीक-ठीक कैसा महसूस हुआ था, इसके बारे में मुझसे तहकीकाती सवाल पूछते थे। सम्भव है कि इस किताब का सम्पादन करने के बाद उन्हें यह महसूस होता हो कि उन चार अशान्त वर्षों के दौरान वे मेरे साथ ही थे!

अँग्रेज़ी में इस किताब के प्रकाशित होने के बाद एक सुखद घटना घटी। मुझे विख्यात खिलौना निर्माता और विज्ञान शिक्षक श्री अरविन्द गुप्ता का मेल मिला। उन्होंने लिखा कि उन्हें किताब बहुत पसन्द आई और उन्होंने किताब की दस प्रतियाँ अपने दोस्तों को उपहार में दीं। मैं श्री अरविन्द गुप्ता की आभारी हूँ। उन्हीं के प्रयासों से ही यह किताब हिन्दी और मराठी में अनुवाद होकर अच्छे प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित की जा रही है। मैं हिन्दी में बढ़िया अनुवाद के लिए श्री भरत त्रिपाठी को, हिन्दी संस्करण के आवरण के लिए श्री जितेन्द्र ठाकुर को तथा इसके प्रकाशन के लिए एकलव्य व उसके प्रकाशन समूह को धन्यवाद देना चाहती हूँ।

एक छोटा-सा किस्सा है जो मैं अपने पाठकों के साथ बाँटना चाहूँगी। मैं यह किताब लिख सकी, इसके लिए मैं एक बहुत खास व्यक्ति की ऋणी हूँ – मेरे पिताजी। मैं डायरी तो ज़रूर लिखा करती थी। पर जब मैं यह किताब लिखने का इरादा कर ही रही थी, तभी वह डायरी और किसी ने नहीं बल्कि मेरे स्नेही पिता ने ही रद्दी पेपर वाले को दे दी! ग्लानि से भरे मेरे पिता ने मुझ पर ज़ोर डाला कि ऐसा हो जाने के बावजूद मैं किताब लिखूँ और मेरी याददाश्त में जो भी है उसे भूलने के पहले मुझे लिखना शुरू कर देना चाहिए। किताब का पहला मसौदा तैयार हो जाने के बाद मैंने उसे उन्हें दिखाया। इसके बाद जल्द ही उनका फोन आया और वे बोले कि उन्हें मेरी डायरियाँ मिल गई थीं और यदि अब मैं उन डायरियों को देखना चाहूँ तो वे कोरियर द्वारा उन्हें भेज सकते थे। मैं बहुत रोमांचित हुई – देर आए दुरुस्त आए। पर जब कोरियर आया तो पता चला कि जो छह नोटबुक मैंने डायरियों की तरह इस्तेमाल की थीं, उनमें से सिर्फ दो ही पार्सल में थीं!

शायद उन्होंने यह सब इसलिए किया ताकि यह सुनिश्चित हो जाए कि मैं इस आभार पृष्ठ पर उनका उल्लेख खास तौर पर करूँ!

जब जनवरी 2008 में यह किताब अँग्रेज़ी में प्रकाशित हुई और मेरे पिता को जानकारी मिली कि अँग्रेज़ी के अलावा अब यह अनुवाद होकर हिन्दी



और मराठी में भी छपने वाली है तो वे बहुत खुश हुए। पर जब तक यह किताब हिन्दी और मराठी में प्रकाशित होती मेरे पिता का कैंसर के कारण जुलाई 2009 में निधन हो गया। मैं इस हिन्दी संस्करण को उनकी सुनहरी यादों को समर्पित कर रही हूँ। "तुम्हें सबके लिए धन्यवाद, नान्ना।"

संयुक्ता

## संयुक्ता

संयुक्ता का जन्म अगस्त 1978 में नई दिल्ली में हुआ और वह स्कूली शिक्षा के लिए कलाक्षेत्र, चेन्नई गई। उसने तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश में बुनकरों के साथ काम करके हथकरघा बुनाई का प्रशिक्षण पाया, और इसके बाद उसने राष्ट्रीय फैशन प्रौद्योगिकी संस्थान में वस्त्र डिज़ाइन की पढ़ाई की। वर्तमान में वह आन्ध्र प्रदेश के पोचमपल्ली क्षेत्र में हथकरघा बुनकरों के एक उपक्रम के साथ कार्यरत है। वह सामाजिक संगठनों के साथ स्वैच्छिक कार्य भी करती है और एक ऐसी दुनिया का सपना देखती है जो न्यायपूर्ण हो और जहाँ लोगों का जीवन निर्वाह अच्छे ढंग से हो सके।

सम्पर्कः samyuktha.gorrepati@gmail.com

---

## एकलव्य

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है जो पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य की गतिविधियाँ स्कूल में व स्कूल के बाहर दोनों क्षेत्रों में हैं।

एकलव्य का मुख्य उद्‌देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे से व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। अपने काम के दौरान हमने पाया है कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद, स्कूल से बाहर और घर में भी, रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। किताबें तथा पत्रिकाएँ इन साधनों का एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। बच्चों की पत्रिका *चकमक* के अलावा *स्रोत* (विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स) तथा *शैक्षणिक संदर्भ* (शैक्षिक पत्रिका) हमारे नियमित प्रकाशन हैं। शिक्षा, जनविज्ञान एवं बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मद्‌दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्रियाँ आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं।

वर्तमान में एकलव्य मध्य प्रदेश में भोपाल, होशंगाबाद, पिपरिया, हरदा, देवास, इन्दौर, उज्जैन, शाहपुर (बैतूल) व परासिया (छिन्दवाड़ा) में स्थित कार्यालयों के माध्यम से कार्यरत है।

---

इस किताब की सामग्री एवं सज्जा पर आपके सुझावों का स्वागत है। इससे आगामी किताबों को अधिक आकर्षक, रुचिकर एवं उपयोगी बनाने में हमें मदद मिलेगी।

सम्पर्कः books@eklavya.in

ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल - 462016